बिहारी-दर्शन

(आलोचना)

प्रणेता
साहित्याचार्य
पं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी
साहित्यरत्न

प्रकाशक
राष्ट्रीय प्रकाशन-मण्डल
मछुआटोली, पटना

मिलने का पता
राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल
मछुआटोली, पटना।

मिलने के अन्य पते

१. गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ
२. गंगा-ग्रंथागार, १९२६ चखेँवालान, दिल्ली
३. गंगा-ग्रंथगार, क्रास्टवेट रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक
रामलखन प्रसाद यादव
नव-निर्माण मुद्रणालय
पटना—३

प्रकाशक का वक्तव्य

श्री मित्रवर श्री लोकनाथ जी द्विवेदी उन इने-गिने साहित्यिक महारथियों में हैं जिनका ब्रजभाषा का ज्ञान और अध्ययन अतीव गहन है। लगभग ३० वर्ष से वह इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। पर खेद है कि उनके तमाम ग्रंथ आदि अप्रकाशित पड़े हैं। इधर कई वर्षों से वह ओरछा-नरेश श्रीवीरसिंहजु देव के साथ हैं और वहाँ पर उन्होंने ब्रजभाषा के संबंध में सराहनीय कार्य किया है और अभी कर रहे हैं। पर ग्रंथों के प्रकाशन की समस्या अब भी सम्मुख है।

'बिहारी' पर इस समय आलोचनात्मक ग्रंथों का हिंदी में सर्वथा अभाव है। यह 'बिहारी दर्शन' भी कई वर्ष से अप्राप्त था। अब हम इसका पुनः संस्करण कर रहे हैं और विश्वास है कि बहुत अंशों तक यह ग्रंथ हिंदी में इस अभाव की पुर्त्ति करेगा।

सिंलाकारीजी के अन्य ग्रंथों के संबंध में भी हम लिखा-पढ़ी कर रहे हैं और शीघ्र ही हिंदी संसार के सम्मुख हम उनकी अन्य कृतियां भी उपास्थित करेंगे।

पटना
१।६५०

ज्योतिलाल भार्गव

सूची

वक्तव्य

मुझे बाल्यावस्था से ही संस्कृत और हिंदी-कवियों के काव्य की चर्चा श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लगभग बारह वर्ष की अवस्था से ही मैं अपने तीर्थ-स्वरूप पिता श्री और उनके संस्कृत-साहित्य-धुरीण मित्रों की काव्य-चर्चा का आनंद लेने लगा था। कहते हैं, बालपन के संस्कार जीवन-पर्यंत हृदय पर अमिट प्रभाव रखते हैं। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गई, त्यों-त्यों मुझे भी काव्य से उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता गया। श्रीकृष्णोपासक वंश-अवतंस होने के कारण संस्कृत-पद्यों के अतिरिक्त श्रीहरिवंश श्रीसूरदास, श्रीहरीराम व्यास, श्रीमीराबाई और श्रीभगवत रसिक आदि महानुभाव भक्तों की रसीली ब्रजभाषा की वाणियों को सुनते-सुनते उनसे अनुराग होना स्वाभाविक ही था। जब कुछ-कुछ समझने की शक्ति आई, तब स्वयमेव इन रचनाओं को पढ़ने का चाव हुआ। कठिन स्थलों के अर्थ जानने की इच्छा कीपूर्ति सुलभ ही थी। अपने पूज्यपाद पिता, काका, ज्येष्ठ भ्राता एवं उनके विद्वान् मित्रों से अर्थ समझने की सुविधा होने के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ती गई।

हिंदी मिडिल पास होने पर मुझे अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्ति की ओर लगाया गया, पर उसकी ओर विशेष प्रवृत्ति न हो सकी।

परिणाम-स्वरूप-सन् १९१९ ई० में, १८ वर्ष की अवस्था में, दो वर्ष तक एफ़० ए० की शिक्षा पाने के बाद उससे अरुचि हो गई। कॉलेज छोड़ते ही घर के पुस्तकालय पर दृष्टि पड़ी। उसमें संस्कृत-साहित्य के लगभग १५०० ग्रंथ थे। इनमें विशेषतया पौराणिक, दार्शनिक, साहित्यिक और आयुर्वेदिक ग्रंथों की प्रचुरता थी। मेरा झुकाव आयुर्वेद को छोड़ शेष ग्रंथों की ओर हुआ। परंतु संस्कृत-भाषा के मूल ग्रंथों का अध्ययन उस समय कठिन जान पड़ा और मैं अपनी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा बुझाने के हेतु हिंदी के प्राचीन गौरवमय, समुन्नत साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। हिंदी के प्राचीन साहित्य में ब्रज-भाषा का स्थान सर्व-श्रेष्ठ प्रतीत हुआ, और इसी के ग्रंथों की उपलब्धि अधिक होने से मैं ब्रज-भाषा-साहित्य को मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में लग गया।

इस समय कभी-कभी यद्यपि मित्रों के कहने-सुनने से कुछ छोटे-मोटे निबंध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे, पर इस ओर मन की प्रवृत्ति न हुई। सन् १९२१ में पूज्य पिता के गोलोक-वासी होने पर मेरे दो ज्येष्ठ बंधुओं ने अत्यंत स्नेह और आश्वासन- पूर्वक मुझे स्वतंत्र ही रक्खा, और इसी कारण इस दुर्घटना के बाद भी मैं ठीक पूर्व जैसा साहित्य के अनुशीलन में लगा रहा। इस समय आर्यों के सर्व-प्रथम, सर्व-श्रेष्ठ और वैज्ञानिक गंभीर साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की अभिरुचि जाग्रत हुई। अब एक ओर साहित्य-शास्त्र का अवलोकन प्रारंभ किया और दूसरे ओर हिंदी-भाषा के प्राचीन काव्य-ग्रंथों को खोज-खोजकर पढ़ने

का क्रम जारी रक्खा। सन् १९२३ ई० के लगभग बुंदेलखंड के प्रमुख राजस्थान ओरछा के सुप्रसिद्ध हिंदी-साहित्यानुरागी महाराज श्रीवीरसिंहजू देव (तत्कालीन युवराज) राजकार्य की शिक्षा के निमित्त सागर पधारे, और लगभग तीन वर्ष तक यहाँ रहे। उनसे मित्रों ने मेरा भी परिचय कराया। मैं महाराजा साहब के काव्य-प्रेम के कारण उनकी ओर आकर्षित हुआ और उनके यहाँ आता-जाता रहा। काव्य-चर्चा ही इस प्रकार मिलने का प्रधान विषय रहा। एक बार उक्त नरेश ने हिंदी-काव्य की आलोचना पर विस्तृत, सांगोपांग आलोचनात्मक ग्रंथों के अभाव की बात उठाई। मैंने भी उसकी आवश्यकता पर अपना मत प्रकट किया। फिर आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में केवल अनधिकारी लोगों के ही नहीं, वरन् प्रसिद्ध विद्वानों तक के निबंधों में हिंदी-साहित्य की हीनता की बात पढ़-पढ़कर उक्त प्रकार के आलोचनात्मक ग्रंथों के आवश्यकता-विषयक विचार की पुष्टि होती गई।

कुछ दिनों बाद यह विचार संकल्प-रूप में परिणत हुआ, और मैंने हिंदी-संसार में प्रामाणिक माने गए प्रायः संपूर्ण आलोचनात्मक ग्रंथ मँगाकर पढ़े। उनमें यद्यपि उत्तमता का अभाव नहीं था, पर मेरी उनसे मनस्तुष्टि न हो सकी और मैंने स्वयं इस ओर कुछ प्रयत्न करने का विचार किया। मैंने अपना यह विचार ओरछा-नरेश (तत्कालीन युवराज) श्रीवीरसिंह जू देव और अपने कुटुंब के गुरुजनों के सम्मुख प्रकट किया।

सबने उसकी आवश्यकता समझी और विचार की सराहना की। मेरे ज्येष्ठ भ्राता कविराज पं० मन्नूलालजी राजवैद्य और वेदविद् पं० राधेलालजी शास्त्री ने इस कार्य में सक्रिय सहायता दी। कौटुंबिक भार सँभालने की चिंता तो थी ही नहीं, अतएव पूरे मन से मैं इस काम में जुट गया। मेरे विद्वान्, हितैषी बंधुओं और हितचिंतकों ने मुझसे नव-रस पर पृथक-पृथक् ग्रंथों के प्रणयन की बात कही। मुझे भी यही उचीत प्रतित हुआ। सबसे पहले मैंने हिंदी-साहित्य के शृंगार-प्रधान काव्य-साहित्य की आलोचना का विचार किया और हिंदी-शृंगार-दर्शन-नामक ग्रंथ का प्रणयन प्रारंभ किया।

सन् १९२३ ई० के प्रारंभ से सन् १९२४ तक यह काय निर्विघ्न होता रहा। परंतु सन् १९२५ ई० के प्रारंभ से ही मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० मन्नूलालजी को मधुमेह ने आ घेरा। अब मैं चिंतित रहने लगा। भाई साहब ने बीमारी की दशा में भी मुझे अपना काम करते जाने की आज्ञा दी, और उसे शीघ्र समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। मैं उनकी रुग्णावस्था में अपने हृदय पर चिंता का भार लिए ग्रंथ-लेखन में जुटा रहा। पर दुर्दैव के कारण मुझ पर विपत्ति का पहाड़ टूट ही पड़ा। कुटुंब में सबसे अधिक अर्थोपार्जन करनेवाले पूज्य बड़े भ्राता का देहावसान हो गया। कुटुंब की संपूर्ण संपत्ति उपचारादि में व्यय करने पर भी कुटुंबी जन अपने गौरव की वह तेजस्वी मूर्ति न बचा पाए। रुग्णावस्था में भी जिसने उत्साहित हो एक-एक पृष्ठ सुना था

उसके निधन पर जो वज्राघात मुझपर हुआ, उसका क्या कभी कोई अनुमान भी कर सकेगा! कुटुंब पर छोटे-मोटे अनेक संकट आए। प्रायः सब स्त्रियाँ छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं। फिर विवाह हुए। आर्थिक संकट का सामना बार-बार करना पड़ा। अब ग्रंथ-लेखन का कार्य एक ओर रख मुझे स्थानीय म्युनिसिपल हाईस्कूल में शिक्षक की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी।

इसके एक वर्ष पश्चात, शोकावेग कुछ कम पड़ने पर, मैंने पुनः ग्रंथ के शेषांश की पूर्ति का विचार किया। अब चिंतित मन और रोगी शरीर लेकर मैं पुनः हिंदी-शृंगार-दर्शन को रात-रात जगकर लिखने लगा। सन १९२७ ई० के मध्य में ग्रंथ पूर्ण हुआ। इसे इस समय मैंने प्रसिद्ध विद्वानों को भी दिखलाया। सबसे अधिक प्रसन्नता मध्यप्रांत के स्वनामधन्य विद्वान् स्वर्गीय रायसाहब श्रीरघुवर प्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल, स्वर्गीय प्रोफेसर लाला भगवानदीन, स्वर्गीय पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री, श्रीअमीरअली 'मीर' और पं० सुखराम चौबे 'गुणाकर' आदि ने प्रकट की और भविष्य में, ग्रंथ प्रकाशित होने पर, भरसक सहायता देने का वचन भी दिया। कहीं-कहीं सुधार आदि करने की ओर भी संकेत किया। मैंने उत्साहित हो पुनः ग्रंथ दोहराया। अब मैंने देखा कि ग्रंथ सब मिलकर फुलस्केप साइज के २३०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। ग्रंथ तो किसी प्रकार समाप्त हो गया, पर अब

उसके प्रकाशन की विकट समस्या उपस्थित हो गई। अनेक प्रकाशकों को लिखा, पर हिंदी में आलोचना-संबंधी इतने विशालकाय ग्रंथ का प्रकाशन करना दुस्साहस समझकर प्रायः सभी शांत रहे। किसी भी प्रकाशक ने इसे प्रकाशित करने का उत्साह न दिखलाया। अब मेरा ध्यान बुंदेल-खंड के नरेशों की ओर आकृष्ट हुआ। सबसे पहले मैं बुंदेल-खंड के प्रधान राज्य ओरछा के तत्कालीन महाराज श्रीमहेन्द्र-प्रतापसिंह जू बहादुर से मिला। वहाँ उस समय भारत-धर्म-महामंडल के सर्व श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती उपस्थित थे। श्रीमान् महाराज के साथ-साथ उक्त दोनों महानुभावों से ग्रंथ के विषय में चर्चा हुई। महाराज साहब ने तो केवल कुछ चर्चा ही सुनी और प्रशंसा की, पर उक्त दोनों महानुभाव विद्वान विशेष अनुरक्त हुए और उन्होंने ग्रंथ का बहुत-सा भाग पढ़ा सुना। मैंने अपना मंतव्य भी उन पर प्रकट किया। इस पर इन महानुभावों ने यह मत प्रकट किया कि मैं पहले बुंदेलखंड का एक इतिहास लिखकर उपस्थित करूँ। उसके पश्चात् मुझे बुंदेला-नरेशों से ग्रंथ-प्रकाशन के हेतु यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकेगी। मैं इसपर प्रस्तुत हो गया, और श्रीस्वामी ज्ञानानंदजी सरस्वती की प्रेरणा से भारत-धर्म-महामंडल की ओर से, बुंदेल-खंड के नरेशों आदि के नाम, मुझे निम्न-लिखित प्रमाण-पत्र दिया गया—

"श्रीमान् साहित्यरत्न पंडित लोकनाथ सिलाकारी साहित्या

चार्य हिंदी-साहित्य-जगत् के एक परिचित व्यक्ति हैं। इन्होंने राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा भी अच्छी की है। ये सब प्रकार के उत्साह देने योग्य हैं। इनकी सद्वासना है कि वीरभूमि बुंदेलखंड का कोई अच्छा इतिहास हिंदी-भाषा में नहीं है, उस अभाव को ये दूर करें। हिंदू-जाति की विराट् धर्म-सभा के नेतृवृंद की यह इच्छा है कि बुंदेलखंड के राजा-महाराजागण तथा समर्थ व्यक्तिगण इनकी इस शुभ कार्य में यथायोग्य सहायता करेंगे, तो इनसे अच्छा कार्य हो सकेगा।"

इसके बाद टीकमगढ़ में मैं महाराज श्रीवीरसिंहजू देव से मिला। आपने बड़े प्रेम से ग्रंथ सुना और सराहा। पर उस समय मैंने अवसर न देख आपसे प्रकाशनादि के विषय में कुछ चर्चा न की। घर लौट आया। एक वर्ष बाद मैंने पुनः बुंदेलखंड के नरेशों के यहाँ जाने का विचार किया। सौभाग्य-वश उसी वर्ष अर्थात् सन् १९२२ में, पन्ना-नरेश ने बुंदेलखंड-केशरी महाराज छत्रशाल की जयंती मनाने का आयोजन किया। मैं भी सागर से प्रतिनिधि-स्वरूप उसमें सम्मिलित होने गया। वहाँ हिंदी-संसार के सुपरिचित सुकवि और साहित्य-मर्मज्ञ श्रीवियोगी हरिजी से भेंट हुई। आपको वीर-सतसई पर उसी वर्ष मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। आपने ग्रंथ को स्वयं आद्योपांत पढ़ा और उसके विषय में लिखा—

"सागर-निवासी साहित्याचार्य पंडित लोकनाथजी सिलाकारी-

रचित 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' के दर्शन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमें संदेह नहीं कि सुयोग्य लेखक ने अपनी गंभीर साहित्य-अध्ययनशीलता का इस महान् ग्रंथ के लिखने में बड़ा अच्छा परिचय दिया है। संस्कृत तथा भाषा, दोनो के ही रीति ग्रंथों को आपने लिखा है। ग्रंथ आलोचनात्मक है। समालोचना की शैली में विवेचना को यथेष्ट स्थान मिला है। . ...मुझे 'प्रेम-वर्णन' नाम का तीसरा अध्याय बहुत ही पंसद आया है। प्रेम-तत्त्व को आपने समझा है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। पक्षपात-हीन आलोचनाओं की हिंदी में आवश्यकता है। मिला-कारीजी ने एतद्विषयक यह वृहद ग्रंथ लिखकर इस अंग की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, और इसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली है। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने की मैं उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करूँगा।"

वहाँ छत्रसाल-जयंती के अवसर पर मुझे महाराज छत्रसाल के काव्य पर आलोचनात्मक भाषण देने का आदेश हुआ। लगभग पौन घंटे तक मैंने भाषण दिया। परिणाम-स्वरूप केवल प्रशंसा प्राप्त हुई, पर ग्रंथ-प्रकाशन के विषय में श्रीमान् महाराजा साहब की ओर से कोई सहायता न प्राप्त हो सकी। इसके बाद मैं अजयगढ पहुँचा। वहाँ युवराज श्रीपुण्यपालसिंहजू देव ने यथेष्ट आदर किया, और ग्रंथ का बहुत-सा भाग सुना, और सराहा। परन्तु वहाँ भी ग्रंथ-प्रकाशन की चर्चा करने में मुझे उत्साह न हुआ। हाँ, अजयगढ़ में मुझे साहित्य के दो प्रेमियों

से संतोष हुआ—(१) श्रीलालजीसहाय वर्मा फॉरस्ट-ऑफ़िसर और (२) श्रीविनायकराव भट्ट, पोस्टमास्टर। दोनों सुकवि, सुलेखक एवं अध्ययनशील साहित्यकों ने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का अधिकांश स्वयमेव पढ़ा। उस पर श्रीलालजीसहाय वर्मा ने मुझे प्रेम-प्रदर्शित करते हुए दो पद्य भेंट किए। इनसे सचमुच मुझे कुछ संतोष पहुँचा। वे पद्य-द्वय निम्न-लिखित हैं—

कलित - प्रेम - मधुर, · सुकवि - कुल-कुमुद विकासक;
समालोचना - किरिन - माल नव - भाव - विकासक।
सीतलता - सुचि - भक्ति - सूक्ति - तुलना - रुचि-राजति;
भाषा - छपा अमंद 'विशद' हिंदी - जग छाजति।
श्रीलोकनाथ- मानस -उदधि-हुलसावन, भ्रम-तिमिर हर।
'हिंदी-शृंगार- दर्शन' भयौ साहित -नभ हिमकर-प्रवर।

सकिल - प्रमान लै समुद्र - सद्ग्रथन तैं,
तुलना कवीन इंद्र - धनु दरसायौ है;
'लोकनाथ' - प्रतिभा - समीर अनुकूल पाय
हिंदी - नभ-मंडल उमंड करि छायौ है।
नाच उठे केकी-मन सुकवि - समूह देखि,
'विशद' विवेचना प्रचंड झरि लायौ है;
सींचन कौ साहित की वाटिका मलान यह,
'हिंदी-शृंगार - दरसन' - सुघन आयौ है।

वहाँ अजयगढ़ से फिर मैं बिजावर पहुँचा। बिजावर-राज्य के राजकवि श्रीबिहारीलालजी भट्ट ने ग्रंथ पढ़ा, और खूब

सराहा। श्रीमान् महाराज साहब से कारण-वश उस समय भेंट न हो सकी। मैं घर लौट आया।

इस यात्रा में बुंदेलखंड की मनोरम उपत्यकाओं, पहाड़ी झरनों, वन-श्री आदि की छटा अवलोकन करने का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, परंतु उद्देश-सिद्ध न होने के कारण कुछ विरक्त-सा हो रहा था। घर आकर कुछ दिनों शांति से रहा। इस समय बुंदेलखंड के इतिहास की भी बहुत कुछ सामग्री मैं एकत्र कर चुका था। प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर मैंने बुंदेलखंड का चारण-गीत गूँथा। इसी कार्य में एक वर्ष लग गया। दिसंबर, १६२६ में मैं बीमार पड़ गया और मुझे विवश हो स्कूल से चार मास की छुट्टी लेनी पड़ी। दो माह में कुछ स्वस्थ होने पर मैं वायु-परिवर्तनार्थ गया। इस बार मैंने खनियाधाना के नरेश श्रीमान् खलकसिंहजू देव के साहित्या प्रेम की अत्यधिक प्रशंसा सुनी और मैं उनसे मिला। राजा साहब साहित्य-प्रेमी और मिलनसार हैं। आपने मुझे बड़े स्नेह और आदर से ठहराया। ग्रंथ साथ ही था। आपने उसका अधिकांश स्वयमेव पढ़ा और कई स्थल मुझसे भी सुने। अंत में दस दिन रहने के बाद जब मैं चलने लगा, तब आपने ग्रंथ के विषय में अपना निम्न-लिखित प्रमाण-पत्रदिया—

"श्रीपंडित लोकनाथजी सिलाकारी के हस्त-लिखित ग्रंथ 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' पर मैंने दृष्टिपात किया। पंडितजी ने इतना अधिक परिश्रम करके इतना बड़ा ग्रंथ तैयार किया है,

यह उनकी महान् विद्वत्ता तथा अध्यवसाय का पूर्ण रूप से द्योतक है। पंडितजी ने हिंदी-साहित्य में यह एक महान् ग्रंथ उपस्थित करके अपने लिये एक स्थायी कीर्ति प्राप्त कर ली है, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं पंडितजी की विद्वत्ता तथा परिश्रम-शीलता की हृदय से सराहना करता हूँ।"

इस प्रकार इस प्रयत्न में मेरा यथेष्ट समय और द्रव्य व्यय हुआ; पर प्रकाशन की कोई व्यवस्था न हो सकी। इस समय मैंने निराश होकर ग्रंथ को एक ओर बाँधकर रख दिया। साहित्य-सेवा के नाम से विरक्ति-सी होने लगी थी! परंतु इसके थोड़े ही दिन बाद मित्रवर बाबू रामानुजलालजी श्रीवास्तव प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर सागर आए। उनके साथ मेरे सजातीय बंधु कविवर पं० केशवप्रसादजी पाठक भी थे। दोनों सज्जन अनेक साहित्यिकों के साथ मेरे घर पधारे। बातचीत के सिल-सिले में हिंदी-शृंगार-दर्शन की चर्चा हुई। ग्रंथ दिखलाया गया और श्रीवास्तवजी ने उसे देखकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने ग्रंथ को अपनी मासिक पत्रिका 'प्रेमा' में क्रमशः प्रकाशित करने की बात की। मैंने कुछ अंश उन्हें भेज दिया। वह 'देव कवि और उनका काव्य-शीर्षक से 'प्रेमा' में एक वर्ष से अधिक लगातार निकला उसके बाद श्रीवास्तवजी ने मुझसे 'प्रेमा' के शृंगार-रस-विशेषांक के संपादन करने की बात कही। उनके आग्रह से मैं इस काम के लिए तैयार हो गया। इस अंक के लिए सामग्री

एकत्र करने में सबसे अधिक सहायता मेरे बंधु श्रीगयाप्रसाद ज्योतिषी, एम्० ए० (वर्तमान सहकारी संपादक सनातन-धर्म, बनारस) ने दी। प्रायः हिंदी-जगत् के संपूर्ण सुप्रसिद्ध विद्वान् साहित्यिकों और व विरत्नों ने मेरी प्रार्थना पर सुंदर सामग्री प्रेषित कर दी। अंक बड़ी उत्तमता से निकाला गया और मैंने उसमें ३५ पृष्ठों का संपादकीय वक्तव्य भी जोड़ा। इस अंक की हिंदी में काफी ख्याति हुई और अनेक विद्वानों ने मुझे सहानुभूति-सूचक पत्र लिखे।

इस वर्ष अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन झाँसी में था। सागर के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक और मेरे परिचित मित्र श्रीजहूरबख्शजी ने मुझसे साहित्य-सम्मेलन में चलने का अनुरोध किया। कुछ आगा-पीछा करने के बाद मैं तैयार हो गया। इस बार भी हिंदी-शृंगार-दर्शन मेरे साथ था। हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यिक पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी और कविवर बाबू गुरुभक्तसिंहजी 'भक्त' एवं अन्यान्य उपस्थित साहित्यिकों ने उसे पढ़ा और अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की। वाजपेयीजी ने तो सभी के समक्ष जी खोलकर ग्रंथ की महत्ता और उपयोगिता के बारे में कहा और उसे सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार के योग्य बतलाया। हाँ, प्रकाशन के विषय में बात आते ही वह गंभीर हो गए। बोले—"भाई,हिंदी में इतना बड़ा ग्रंथ कोई नहीं छाप सकता। यहाँ बिक्री तो होती ही नहीं, गंभीर सहित्य पढ़नेवाले हैं ही कितने हिंदी-भाषी ?" मैं भी चुप हो रहा।

फिर श्रीजहूरबख्शजी ने हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और सम्मेलन की स्वागतकारिणी के सभापति बाबू वृंदावनलालजी वर्मा ऐडवोकेट से 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ग्रंथ उनके समक्ष रख दिया। वर्माजी उसे देख और यत्र-तत्र कुछ अंश पढ़कर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला—"सम्मेलन के स्टेज पर तो हिंदी के ऐसे महान् ग्रंथों की चर्चा होनी ही चाहिए। यदि सम्मेलन ऐसे ग्रंथ का प्रकाशन नहीं कर सकता, तो वह है किस मर्ज की दवा? पर हिंदी के दुर्भाग्य से यहाँ अध्ययनशीलता का आदर ही कहाँ है? सर्वत्र दलबंदी की दलदल में हिंदी फँसी पड़ी है।" अस्तु।

इस घटना के १० माह बाद मेरी इच्छा लंबी यात्रा करने की हुई और स्कूल से ६ माह का अवकाश लेकर मैंने उत्तराखंड के महात्माओं का सत्संग किया, और कुछ समय वृंदावन में भक्त वैष्णवों के साथ व्यतीत किया। इस यात्रा में मैं 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' को भी साथ ले गया था। जब हरिद्वार पहुँचा, तब मुझे वहाँ के प्रसिद्ध संन्यासी महात्मा श्रीस्वामी निरंजन देव सरस्वती के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उक्त स्वामीजी महाराज संस्कृत और भाषा के प्रकांड विद्वान् हैं। कुछ दिन रहने के बाद आपने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' देखा। उसपर प्रसन्न होकर श्रीस्वामीजी ने लिखा:—

"हिंदी-साहित्य के अंतरंग तथा बहिरंग का व्यापक अध्ययन करके आपने जो 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' नामक विशालकाय समा-

लोचनात्मक ग्रंथ लिखा है, वह आपकी अगाध विद्वत्ता और परिश्रमपूर्ण खोज का भली भाँति परिचय देता है। आपने संस्कृत तथा हिंदी के रीति-ग्रंथों का जो मनन तथा विवेचनात्मक अध्ययन किया है, उसकी छटा ग्रंथ में सर्वत्र है। विषय-प्रवेश में आपने साहित्यिक दृष्टि से शृंगार की अद्वितीयप्राय ढंग से विशद विवेचना करके उसका अंग-प्रत्यंग पर पूर्वाचार्यों के मतों की समीक्षा तथा आलोचना करके अपने निर्भीक सिद्धांतों का अच्छा निरूपण किया है। साथ ही भक्ति-प्रधान शृंगार के विषय में भक्ति का शास्त्रीय ढंग से ऊहा-पोह कर तात्त्विक निरूपण करने के अनंतर सनातन वैदिक धर्म के विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक उनके धार्मिक सिद्धांतों एवं उनके प्रधान साहित्यिकों की रचना की बड़ी मनोरम तथा प्रामाणिक आलोचना की है। इसके पीछे हिंदी के सैकड़ों प्रसिद्ध तथा उत्तम कवियों की रचनाओं की तुलनात्मक आलोचना, अपने पूर्ववर्त्ती समालोचकों की प्रत्यालोचना, करते हुए साहित्य की जो अविरल छटा छहराई है वह साहित्य-रसिकों को अपार आनंद प्रदान करनेवाली है। यह ग्रंथ लिखकर आपने राष्ट्र-भाषा हिंदी की जो स्थायी सेवा की है, उसके लिये आप प्रत्येक हिंदी-भाषी के धन्यवादास्पद हैं। इससे केवल वैभव-संपन्न हिंदी-साहित्य का ही पूर्ण परिचय प्राप्त न होगा, वरन् भारतीय आर्य-साहित्य और संस्कृति का तात्त्विक ज्ञान भी भली भाँति होगा।"

उस समय ब्रज-भाषा के धुरंधर मर्मज्ञ कविवर श्रीजगन्ना-

दासजी 'रत्नाकर' रुग्ण दशा में हरिद्वार आए हुए थे। मैं उनसे जब मिलने गया, तब उनकी स्थिति शोचनीय हो गई थी। फिर भी उन काव्य-प्रेमी कलाकार ने मुझसे साहित्य-संबंधी कुछ बातें कीं। मेरे साथ के एक संन्यासी ने उनसे 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा कर ही दी। उन्होंने उसका संक्षिप्त परिचय चाहा। मैंने एक दिन जाकर उन्हें विषय-सूची, जो लगभग १४ पृष्ठों में समाप्त हुई थी, सुना दी। सुनकर प्रसन्नता प्रकट की, और कुछ स्वस्थ होते ही ग्रंथ देखने का विचार प्रकट किया। दुर्भाग्य-वश वह समय फिर न आ सका।

इसके बाद, सन १९३३ के ऑक्टोबर-मास तक, मैंने 'हिंदी शृंगार-दर्शन' को बक्स ही में पड़ा रहने दिया। पर इसी समय हिंदी-संसार के युगांतरकारी प्रकाशक पं० दुलारेलालजी भार्गव के अनुज पं० ज्योतिलालजी भार्गव सागर पधारे। उन्होंने गंगा-पुस्तकमाला की शाखा सागर में स्थापित की थी। मेरे मित्र श्रीप्यारेलालजी भार्गव के यहाँ वह ठहरे। श्रीजहूरबख्श के साथ जब मैं बाजार से लौटकर आ रहा था, तब दूकान पर दोनों सज्जनों से मेरी भेंट हो गई। फिर सब लोग मेरे घर आए। ज्योतिलालजी भार्गव से जहूरबख्शजी ने इस बार फिर 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ज्योतिलालजी बहुत देर तक उसे देखते रहे। उन्होंने सुधा में प्रकाशनार्थ उसके कुछ अंश चाहे। मैंने उन्हें दे दिए। वे सुधा में अगले तीन माह में प्रकाशित हो गए। अब श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने मुझे लखनऊ

बुलाया। मैं जनवरी, १९३४ में लखनऊ गया। भार्गवजी स्वयं सुकवि और कला-मर्मज्ञ हैं। ग्रंथ देखकर वह अत्यंत संतुष्ट हुए, पर उसकी विशालता देखकर उन्होंने ग्रंथ को खंडशः प्रकाशित करने का मत प्रकट किया। उनके समझाने पर मैं भी सहमत हो गया। यही 'बिहारी-दर्शन' की उत्पत्ति का एक इतिहास है 'बिहारी-दर्शन' वास्तव में 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का एक भाग है, जो उसके बिहारी-विषयक अंशों को लेकर संकलित किया गया है।

अंत में मैं उन संपूर्ण ग्रंथकारों और लेखकों को धन्यवाद देता हूँ, जिनके ग्रंथों एवं लेखों को पढ़कर मैंने लाभ उठाया है। आजकल यद्यपि लेखकों में प्राचीन साहित्य की निंदा करने की दुष्प्रवृत्ति बलवती दिखाई दे रही, पर यह अधिकांश में इन लोगों की अध्यन-हीनता का ही परिणाम है। इन्हें महान् साहित्यिकों के विषय में इतना स्मरण रखना चाहिए—
"काहू के क्यों हू घटाए घटैं नहीं, सागर औ गुन-आगर प्रानी।"
यहाँ मैं श्रीदुलारेलालजी को भी हार्दिक धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, जिनके प्रयत्न से, अंत में, यह ग्रंथ हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

सागर,
३०। १०। ३६ } लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी

कवि-परिचय

अनेक महापुरुषों और महाकवियों के जन्म-स्थान तथा जन्म-काल आदि के विषय में प्रायः शंका रहती है। इसका कारण यही है कि ये लोग अपने विषय में स्वयं कुछ भी नहीं लिखते। ऐसे लोगों के विषय में अनेक किंवदंतियाँ फैल जाती हैं। यही दशा महाकवि बिहारीलालजी के विषय में भी है। यद्यपि सतसई के निर्माण-काल से ही विद्वानों का उस पर अत्यंत अनुराग रहा है, एवं सतसई का क्रम स्थिर करने तथा उस पर टीका-टिप्पणियाँ लिखने में अनेक विद्वानों और कवियों ने परिश्रम किया, तथापि इनमें से किसी ने भी बिहारीलालजी के कुल, गोत्र, जन्म-स्थान एवं जीवन-चरित्र के विषय में यथेष्ट रूप से नहीं लिखा। सतसई की अनेक टीकाएँ तो बिहारीलालजी के जीवन-काल में ही रची गईं, पर, खेद है, उनमें से किसी ने भी बिहारीलालजी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। इसका कारण यह भी है कि उस समय के लोग काव्य के गुण-दोषों पर ही विशेष ध्यान देते थे। इस समय बिहारीलालजी का जीवन-चरित्र लिखनेवालों को भिन्न-भिन्न टीकाओं में प्राप्त बिहारी-विषयक स्फुट वाक्यों, किंवदंतियों एवं आख्यायिकाओं से सहायता मिलती है। कुछ लोगों ने यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर बिहारीलाल जी की जीवनी, संक्षेप में, लिखने का प्रयास किया है। इनमें सबसे अधिक प्राचीन 'बिहारी-बिहार'-नामक पद्यात्मक निबंध है, जिसमें बिहारीलालजी का जीवन-चरित्र प्रामाणिक रीति से लिखा है। इसका

निर्माण-काल संवत् १७२१ की चैत्र-शुक्ल सप्तमी, सोमवार है। इसके सिवा स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' ने भी बिहारीलाल जी के विषय में बहुत खोज करने के उपरांत उनकी जीवनी 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के पिछले दो अंकों में अत्यंत प्रामाणिक रीति से लिखी थी। इन सबका अवलंबन कर मैं यहाँ बिहारीलालजी के विषय में संक्षिप्त, प्रामाणिक रूप से लिखता हूँ। अस्तु।

महाकवि बिहारीलालजी धौम्यगोत्रीय श्रोत्रिय माथुर चौबे थे। माथुर में पांडेय, पाठक, तिवारी, ककोर एवं घरवारी आदि चौसठ उपाधियाँ होती हैं। इनमें से बिहारीलालजी घरवारी थे। श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी को ककोर-कुलोत्पन्न लिखा है, पर इन सज्जनों का यह मत भ्रम-पूर्ण और अशुद्ध है। बात यह है कि श्रीयुत मिश्रबंधु बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्ण कवि को ककोर-कुलोत्पन्न देखकर और किंवदंती से कृष्ण कवि को बिहारीलालजी का पुत्र मानकर उन्हें ककोर-कुलोत्पन्न लिखते हैं। परंतु इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं कि कृष्ण कवि बिहारीलालजी के पुत्र थे। यदि ऐसा होता, तो कृष्ण कवि अपने परिचय में इस बात का अवश्य ही उल्लेख करते। जहाँ उन्होंने अपनी जाति और अल्ल आदि सभी के विषय में लिखा है, वहाँ इतना अवश्य लिखते कि वह महाकवि बिहारीलालजी के पुत्र थे। क्योंकि इतने बड़े महाकवि के पुत्र होने का उन्हें गौरव होता, इस कारण वह अवश्य ही अपने को महाकवि बिहारीलालजी का पुत्र कहकर गौरवान्वित करते।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि और आचार्य श्रीकुलपति मिश्र बिहारीलालजी के भांजे थे। स्मरण रहे कि चतुर्वेदियों का विवाह-संबंध मिश्रों और घरवारियों में होता है। ककोर-कुलवालों और मिश्रों में परस्पर विवाह-संबंध नहीं होते। इससे जब कुलपति

मिश्र बिहारीलालजी के भांजे थे, तब बिहारीलालजी अवश्य ही घरवारी थे; यह निर्विवाद है। जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा ने, 'चतुर्वेदी-पत्रिका' के पिछले अंकों में, इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं—"जयपुर-निवासी कविवर अमरकृष्णजी का कुल अद्यावधि, सतसईकार, कवि-श्रेष्ठ बिहारीलालजी के वंशजों के नाम से प्रसिद्ध है।" शर्माजी ने लिखा है—"अमरकृष्णजी के पास ताम्र-पत्र के रूप में जयपुर-नरेश की दी हुई सनद भी थी, जो पारिवारिक पारस्परिक कलह के कारण लुप्त हो गई, और अब उपलब्ध नहीं है। यह अमरकृष्णजी 'घरवारी' हैं।"

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने, बड़े परिश्रम और खोज से, राजपूताने के कवियों के विषय में, जो 'कविरत्न-माला' नामक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें बड़े अनुसंधान के पश्चात् बिहारीलालजी को घरवारी लिखा है।

बूँदी के राजकवि पं० अमरकृष्णजी घरवारी माथुर चौबे हैं। उनसे निम्न-लिखित बातों का पता चलता है—

बिहारीलालजी घरवारी चौबे धौम्यगोत्र, आश्वलायन शाखा तथा त्रिप्रवर (कश्यप, अत्रि और सारस्य) थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, और उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं। बिहारीलालजी दो भाई थे। उनके स्वयं कोई संतान नहीं थी; अतः अपने भतीजे 'निरंजनजी' को उन्होंने अपना पुत्र माना। उन्हीं से उनकी वंश-परंपरा चली। बिहारीलालजी ब्रह्मपुरी (जयपुर) में रहते थे। पं० अमरकृष्णजी के पिता पं० बालकृष्णजी बूँदी के राजकवि हो गए थे। बूँदीके प्रधान कवि चारण सूर्यमल्लजी ने अपने सुप्रसिद्ध प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ 'वंश-भास्कर' में लिखा है—

कवि विप्र बिहारी वंश जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात।

पं० बालकृष्णजी ने अपने वंशजों की नामावली निम्न-लिखित छंद में दी है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत ;
तनय निरंजन तासु भयो बिख्यात सुद्धमत ।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरनि भनि ;
दयाराम सुत तासु भयौ तिनके मानिक मनि ।
पुनि भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भयो;
गुन-निपुन चतुर-जन-माल-मनि कबिता-तिय-नायक कह्यो ।

यह वंशावली उन्होंने सोरों-घाट के एक पंडा की बही में नाम देखकर बनाई है। पं० अमरकृष्णजी ने भी अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत;
प्रकट ज्ञान के धाम कहूँ लवलेस न दुरमत ।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरन गुनि;
दयाराम सुत जासु बहुरि तिनके मानक भनि ।
भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भएउ;
गुन-निपुन चतुरता-सदन सो कबिता-तिय-नायक कहेउ ।
तिनके भो अति मंद-मति कबि-जन-किंकर जानि;
बिद्या-बिमल-बिबेक-बिनु अमरकृष्ण पहिचानि ।

अतः बिहारीलालजी घरबारी थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, जैसा बिहारीलालजी ने स्वयं अपने निम्न-लिखित दोहे में कहा है—

जनम लियो द्विजराज-कुल, स्वबस बसे ब्रज आय;
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराय ।
(बि० सं० ६९९)

इस दोहे में कवि भगवान् श्रीकृष्ण और अपने पिता केशवराय

से अपने क्लेश-हरण की प्रार्थना करता है। पिता से प्रार्थना करने का कारण संभवतः यह जान पड़ता है कि बिहारीलालजी के पिता केशवराय बड़े ही धर्मनिष्ठ महात्मा थे, और बिहारीलालजी सत्पुत्र के समान उन्हें ईश्वर-तुल्य समझते थे। इससे बिहारीलालजी की पितृभक्ति का पता चलता है। भगवान् केशव की प्रार्थना ठीक ही है। दोहा श्रेष्ठ है। देखिए—

भावार्थ—"जिन्होंने द्विजराज-कुल [(१) द्विजराज = चंद्र, कुल = वंश। इस प्रकार द्विजराज-कुल से चंद्र-वंश का अर्थ निकलता है, और श्रीमद्भागवत से यह स्पष्ट है कि यादव चंद्र-वंशी थे, इस प्रकार इसका अर्थ यदु-कुल निकलता है, एवं भगवान् श्रीकृष्ण का यदुकुल में उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। (२) द्विजराज-कुल से द्विज अर्थात ब्राह्मण और राज से श्रेष्ठत्व का बोध होकर द्विजराज-कुल से 'श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल' का अर्थ स्पष्ट है।] अर्थात् यदुकुल और श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, और जो स्ववश अर्थात् अपनी ही इच्छा से [(१) भगवान् श्रीकृष्ण राक्षसों का नाश एवं साधु पुरुषों का परित्राण करने के अर्थ अपनी ही इच्छा से अवतार धारण कर बृज में बसे। (२) बिहारी के पिता केशवराय भी अपनी ही इच्छा से भक्ति में डूबकर (किसी आर्थिक कष्ट आदि के कारण नहीं) पुण्य भूमि बृज में वास करने लगे थे]। बृज में आकर बसे। ऐसे भगवान् केशव और मेरे ईश्वर-तुल्य पूज्य पिता महात्मा केशवराय मेरे संपूर्ण (भव-भय-जनित) क्लेशों को दूर करो।"

श्रीयुत मिश्रबंधु लिखते हैं—"परंतु दोहे पर गौर करने से प्रकट होता है कि केशवराय शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये।" (हिंदी-नवरत्न द्वितीय संस्करण, पृ०-सं० २७६) यह श्रीमिश्रबंधुओं की भूल है। 'दोहे पर गौर करने से' यह स्पष्ट है

कि 'केशव' श्रीकृष्ण के लिये और 'केशवराय' बिहारीलालजी कवि के पिता के लिये आया है।

बिहारी-सतसई के सर्व-प्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि, जो बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्णदत्त कवि से सर्वथा भिन्न हैं, बिहारीलालजी के समकालीन थे। वह उपर्युक्त दोहे की टीका में लिखते हैं—

केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्णजू।

इससे बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना स्पष्ट है। यह टीका संवत् १७२१ के लगभग समाप्त हुई थी, अतएव इसका कथन विशेष प्रामाणिक है। फिर यही बात अनवर-चंद्रिका के इस वाक्य से भी सिद्ध होती है- "केशव, केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।" इसी प्रकार रसचंद्रिका, हरिप्रकाशटीका और लालचंद्रिका से भी बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना पाया जाता है।

बिहारीलालजी का जन्म संवत् १६५२ में, ग्वालियर में हुआ था, जैसा निम्न-लिखित दोहे से स्पष्ट है—

संवत जुग२ सर५ रस६-सहित भूमि१ रीति गिन लीन्ह ;
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं बिधि दीन्ह।
(बिहारी-बिहार)

जान पड़ता है, बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी महात्मा होने के साथ-साथ अच्छे सुकवि भी थे। इसी से हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि-श्रेष्ठ और आचार्य श्रीकुलपति मिश्रजी ने अपने ग्रंथ 'सग्राम-सार' के आदि में ही उनकी स्तुति करते हुए लिखा है—

कविबर माता यह सुमिरि, केशव केशवराय ;
करौं कथा भारत्थ की भाषा छंद बनाय।

बिहारीलालजी के एक भाई और एक बहन भी थी। इनके पिता

किसी कारण-वश ग्वालियर से ओरछे चले आए। उस समय ओरछे की गद्दी पर राजा रामशाहजी थे, जो संवत् १६४९ में महाराज मधुकरशाह के स्वर्गवासी होने पर, राज्य के अधिकारी हुए थे। उस समय वह उतरती अवस्था के थे, इसलिये उन्होंने अपने प्रिय सहोदर भ्राता इंद्रजीतसिंह को राज्य-काज चलाने का भार सौंपा। इंद्रजीतसिंह कार्यकुशल, नितिज्ञ और प्रकृत वीर होते हुए भी साहित्य और संगीत के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ कवियों, गवैयों और नर्तकियों का जमघट रहता था। उन्हीं के यहाँ आचार्य केशवदासजी थे, जिनका वह बड़ा सम्मान करते थे। बिहारीलालजी के पिता तथा कुलपति मिश्र के मानामह केशवरायजी भी अच्छे कवि थे। वहाँ वह केशवदासजी से मिले। जान पड़ता है, केशवदासजी ने बालक बिहारी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें साहित्य पढ़ाया था। बिहारीलालजी की सतसई से भी उनका केशवदासजी के ग्रंथों का अच्छी तरह पढ़ना विदित होता है।

वहाँ उस समय दसान-नदी के किनारे 'गुढ़ो' ग्राम में एक सुप्रसिद्ध महात्मा रहते थे, जिनका नाम श्रीनरहरिदासजी था। बिहारीलालजी के पिता इन महात्मा के पास बहुधा आया-जाया करते थे। श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के यह महात्मा महंत हो गए थे। इस संप्रदाय के ग्रंथ–'निज-मत-सिद्धांत' –से निम्न-लिखित बातों का पता चलता है–

"श्रीनरहरिदेव अथवा नरहरिदासजी उक्त संप्रदाय के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा थे। संवत् १६८३ से संवत् १७४१ तक निधिवन की गद्दी पर रहे। उनके पिता का नाम विष्णुदास और माता का उत्तमा था। वह बुँदेलखंड में दसान-नदी के किनारे 'गुढ़ो' ग्राम में रहते थे। उनका जन्म सं० १६४० में हुआ, और वह बाल्यावस्था ही से साधु-संतों की सेवा करने लगे, और सिद्ध तथा महात्मा

प्रसिद्ध हो गए। संवत् १६६५-६६ में सरसदेवजी, जो वृंदावन में निधिवन के महंत थे, देशाटन करते हुए बुंदेलखंड गए, और नरहरिदासजी को अपना शिष्य कर आए। संवत् १६७५ में नरहरिदासजी अपने गुरु के पास वृंदावन चले आए। सवत् १६८३ में वह अपने गुरु की गद्दी पर बैठे, और संवत् १७४१ तक, १०१ वर्ष की आयु तक, विद्यमान रहे।"

(देखो 'निज-मत-सिद्धांत')

ऐसा जान पड़ता है, इसके बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी इन महात्मा के शिष्य हो गए, एवं बिहारीलालजी को भी इन्हीं से मंत्रोपदेश कराया*। श्रीनरहरिदासजी भी प्रसिद्ध महात्मा तो थे ही, इससे महाराज इंद्रजीत और महाकवि केशवदासजी भी उनके दर्शनों को आते थे। नरहरिदासजी के पिता से ओरछे के राजा का व्यवहार होना 'निज-मत-सिद्धांत' नामक ग्रंथ से विदित भी होता है। यहीं श्रीनरहरिदासजी ने महाकवि केशवदासजी से बिहारीलालजी को ध्यान से पढ़ाने का अनुरोध किया। केशवदासजी बिहारीलालजी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें पुत्रवत् स्नेह से पढ़ाने लगे।

बिहारीलालजी को केशवदासजी के पास अध्ययन करने का समय बहुत ही थोड़ा मिल सका। क्योंकि संवत् १६६४ के पूर्व ही महाराज इंद्रजीत का अखाड़ा अस्त-व्यस्त हो गया, और महाकवि केशवदासजी को छोड़कर उसके शेष सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गए। यह घटना बुंदेलखंड में अत्यंत प्रसिद्ध है। अद्यावधि लोग इस घटना को 'प्रेत-यज्ञ' कहते हैं। इसी समय बिहारीलालजी के पिता केशवराय इस घटना के कारण अत्यंत विरक्त हुए, और अपना शेष जीवन

*'निज-मत-सिद्धांत' में नरहरिदासजी के एक शिष्य का नाम केशवराय लिखा है। —लेखक

श्रीवृंदावन-धाम में, परमात्मा श्रीकृष्ण के आराधन में, व्यतीत करने की इच्छा से सकुटुंब व्रज में चले आए।

वृंदावन में उस समय श्रीनरहरिदासजी के दीक्षा-गुरु श्रीसरसदेव निधिवन की गद्दी पर थे। केशवराय और बिहारीलालजी का परिचय उनसे नरहरिदासजी के आश्रम गुड़ागाँव में हो ही चुका था; और केशवराय महात्मा एवं सुकवि थे ही। इससे महात्मा श्रीसरसदेवजी उन्हें अत्यंत प्रेम की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्होंने इन्हें सादर लिया, और अपने ही पास ठहराया। श्रीसरसदेवजी के एक और शिष्य नागरीदासजी थे। वह टट्टियों की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवों के साथ यमुनाजी के तट पर निवास करते थे। वह भी प्रसिद्ध महात्मा थे। केशवरायजी सकुटुंब यहीं रहने लगे। बिहारीलालजी की माता का देहांत बहुत पहले हो ही चुका था, इससे अब केशवरायजी को केवल दो पुत्रों और एक पुत्री की चिंताथी। पुत्री की अवस्था उस समय बारह वर्ष की हो चुकी थी, अतएव उस समय की प्रथा के अनुसार उसके विवाह करने की उन्हें चिंता हुई। पिता तो संतान के विवाह की चिंता में लगे, और बिहारीलालजी विद्या सीखने लगे।

श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के महंत सदा से संगीत तथा काव्य के पूर्ण ज्ञाता होते आए हैं। इस संप्रदाय में अनेक प्रसिद्ध कवि और गायक थे। श्रीस्वामी हरिदासजी स्वयं संस्कृत और हिंदी के महान् कवि थे। गायन में उनकी निपुणता विश्व-विख्यात थी। श्री स्वामीजी महाराज का गायन सुनने के लिये, वेष बदलकर, प्रतापी मुग़ल-सम्राट् अकबर के जाने की आख्यायिका प्रसिद्ध ही है, और श्रीसरसदेवजी के गुरु श्रीबिहारिनिदासजी के हजारों पद आज भी उनके संप्रदाय के स्थानों में विद्यमान हैं। नागरीदासजी भी साहित्य-संगीत-कला के प्रेमी थे। इस स्थान में रहकर भी बिहारी-

लालजी ने कुछ दिनों श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया और संगीत-विद्या में भी निपुणता प्राप्त की।

श्रीसरसदेवजीका व्रजमंडल में बहुत महत्त्व था। उन्हें व्रजके सब लोग मानते थे। माथुर वंश के तो प्रायः सभीलोग इसी संप्रदाय में दीक्षित थे; अतएव वे उन्हें मानते और सदा उनके दर्शनों को आते थे। उसी समय व्रज में हरिकृष्ण मिश्र नामक एक माथुर चौबे थे, जो महंत जी के यहाँ आते थे। उनके परशुराम नामक पुत्र था। वह बड़ा ही विद्वान था। श्रीसरसदेवजी की अनुमति से बिहारीलालजी की बहन का विवाह उक्त परशुरामजी मिश्र से हो गया। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान्, कवि और आचार्य कुलपति मिश्र इन्हीं परशुरामजी के पुत्र और बिहारीलालजी के भांजे थे। अपने वंश के आदि पुरुष के विषय में कुलपति मिश्र ने निम्न-लिखित पद्य कहा है—

माथुर-बंस प्रसिद्ध मिश्रकुल अभयराज भय,
सब विद्या-परबीन वेद-अध्ययन तपोमय।

कुलपति मिश्रजी के वंशज पं० बद्रीप्रसादजी चतुर्वेदी 'बाँदीकुई' में हैं। उनका परंपरागत कथन यह है कि बिहारीलालजी माथुर चौबे और कुलपति मिश्रके मामा थे। पिता ने कन्या के विवाह के उपरांत बिहारीलालजी का विवाह भी मथुरा में एक धनाढ्य माथुर चौबे के यहाँ, उसकी रूपवती कन्या से, कर दिया। बिहारीलालजी के भाई का विवाह भी कदाचित् इसी समय, मैनपुरी में कर दिया। साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्तजी व्यास ने 'बिहारी-बिहार' की भूमिका में जो बिहारीलालजी के वंशजों का होना लिखा है, वे बिहारीलालजी के इन्हीं भाई के वंशज होंगे, क्योंकि बिहारीलाल जी को निज वंशज बूँदी, काली पहाड़ी तथा कामवन में हैं। संतानों के विवाह के बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी बैरागी हो गए। उस समय बिहारीलालजी सपत्नीक उनके पास नहीं

रह सकते थे, क्योंकि वह आश्रम में रहते थे ; इससे बिहारीलाल जी मथुरा में, अपनी ससुराल में, रहने लगे। पर वह महात्मा नागरीदासजी के यहाँ, उनके दर्शन करने एवं साहित्य-संगीत सुनने-सुनाने, सदैव आया-जाया करते थे।

इसी समय, संवत् १६७५ में, श्रीनरहरिदासजी भी बुंदेलखंड से श्रीवृंदावन-धाम चले आए, और श्रीनागरीदासजी के स्थान पर ही ठहरे। बिहारीलालजी अब अपने गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास नियम से आने लगे। उनका महात्म्य तो पहले से ही प्रसिद्ध था। अब वृंदावन आने पर उनकी ख्याति और भी बढ़ी। बड़े-बड़े विद्वान् और कुलीन एवं धनी लोग उनके पास आने लगे। बादशाह जहाँगीर गद्दी पर था; और शाहजहाँ यद्यपि युवराज था, पर बादशाह ने उसे सुल्तान का खिताब (पद) दे दिया था। उस समय तक मुसलमान बादशाह हिन्दुओं के संत-महंतों के पास बड़ी श्रद्धा से जाते, और उनके दर्शन करके उनके उपदेश एवं आशीर्वाद से लाभ उठाने की अभिलाषा रखते थे। 'तुजके-जहाँगीरी' में जहाँगीर बादशाह का संवत् १६७५ में वृंदावन जाना और चिद्रूपनामक महात्मा का दर्शन करना लिखा है। इस यात्रा में बादशाह जहाँगीर के साथ सुल्तान शाहजहाँ भी था। सुल्तान शाहजहाँ श्रीनागरीदास की टट्टी में उनके दर्शनों को गया, और उसने वहाँ श्रीनरहरिदासजी से भी भेंट की। इस समय बिहारीलालजी भी महात्मा नरहरिदासजी के दर्शनों को गए थे। इस समय तक बिहारीलालजी की कीर्ति फैल गई थी। वह संगीत और काव्य एवं संस्कृत तथा हिंदी के मर्मज्ञ विद्वान् समझे जाने लगे थे। बिहारी-बिहार में लिखा है—

बिद्या-काव्य अनेक बिधि पढ़ी परम सचुपाय।
स्वामी की आसीस सों भए सब पूरन काम ;

गान-ताल सब सीखियौ जपत रहे हरि-नाम।
निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्हीं बहु भाँति;
सुखी भए माता-पिता, सखा, मित्र अरु जाति।
एक समय सरताजजू शाहजहाँ सुलतान;
आए इहि अस्थान में कीन्हों बहु सनमान।
राग-रागिनी सुनि लिए पंच शब्द परकार;
तब कविता की कह दई स्वामी गुन-आगार।
हम उनकी कविता करी, भए प्रसन्न बड़ भाव;
चलत कहीं हमसों तबहिं अर्गलपुर में आव।

इस प्रकार शाहजहाँ की आज्ञा से बिहारीलालजी आगरे पहुँच गए। वहाँ शाहजहाँ ने उन्हें सादर रख लिया। शाहजहाँ फारसी, संस्कृत और हिन्दी का जाननेवाला एवं बड़ा ही कविता-प्रेमी था। इसी के दरबार में पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि राय सुंदर, कवि-श्रेष्ठ आचार्य कुलपति मिश्र, कविवर दूलह आदि अनेक प्रसिद्ध महाकवि और आचार्य थे। बिहारीलालजी बहुत दिनों तक वहाँ संगीत और साहित्य सुनाते हुए शाहजहाँ के आश्रय में रहे। यहीं उन्होंने फारसी और उर्दू साहित्य का अध्ययन मनोयोग पूर्वक किया। कुछ दिनों बाद शाहजहाँ के पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समय आगरे में बड़ उत्सव मनाया गया। इस उत्सव में भारत के ५२ नृपति पहुँचे थे। 'बिहारी-बिहार' में लिखा है—

मध्य आगरे जमुन-तट दुर्ग अगम आगार,
बसे तहाँ बहु काल पुनि करि कविता बिवहार।
पढ़ी पारसी साह की गजल, गीत अरु सेर;
गान सुनत सो रात को दिवस गए बहुतेर।
पुत्र जु जनम्यो साह के बजी बधाई देस,
दीप दीप में बड़ हरख रावत, राव, नरेस।

ताहि समय बावन नृपति भारत के तहँ आय ;
शाहंसाह हमें कही कबिता सबहिं सुनाय।
तब रचि-पचि कबिता करी साह सराही ताहि ;
रहे भूप - दरबार में मन में सब हरषाहि।
शाहजहाँ की साहिबी लालबिहारी मान ;
धन-मनि-भूषन को गने, पायो बहु सनमान।
भारत के बावन नृपति रहे आगरे माहिं ;
सनद दिवाई सबन सों साहिब आपु सिहाहिं।
बर्षासन सबने करे जथासक्ति सुभ काम।

आगरे में रहना बिहारीलालजी को बड़ा लाभदायक हुआ। वहाँ उन्होंने फारसी-उर्दू भी पढ़ी, और उसमें कविता करने का भी अभ्यास किया। उस समय आगरा राजधानी होने के कारण लक्ष्मी का आगार था। शाहजहाँ के कृपा-पात्र होने के कारण छोटे-बड़े सभी सामंत, सरदार, साहूकार और धनी-मानी लोगों के यहाँ बिहारीलालजी का आदर होने लगा। वह भी काव्य-व्यवहार करते हुए वहाँ सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। पुत्रोत्पत्ति पर शाहजहाँ ने बिहारीलालजी को बहुत सम्मान-पूर्वक धन, मणि और आभूषण देकर अत्यंत संतुष्ट किया, और शाहजहाँ के कहने से एवं उसका कृपा-पात्र जानकर उन बावन राजाओं ने भी दान-सम्मान से बिहारीलालजी को संतुष्ट किया, एवं वर्षाशन (भोजन के निमित्त कुछ सालाना बंधान) बाँध दिया। इसी समय आगरे में बिहारीलालजी प्रसिद्ध कवि और दानी खानखाना नवाब अब्दुलरहीम से मिले। उनकी सभा में उन्होंने निम्न-लिखित दोहे सुनाए—

जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेलैंवालु,
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुरालु।

श्रीनरहरि नरनाह को दीन्हीं बाँह गहाय ;
सुगुन - आगरैं आगरैं रहत आय सुख पाय।

फिर रहीम की प्रशंसा में एक दोहा सुनाया। ध्यान रहे, रहीम ने महाकवि गंग को एक पद्य पर प्रसन्न होकर ३६ लाख मुद्राएँ दी थीं। यह घटना साहित्य में अत्यत प्रसिद्ध है। बिहारीलालजी ने रहीम की प्रशंसा करते हुए कहा--

गंग गोंछ, मोछैं जमुन, अधरन सरसुति-रागु ;
प्रकट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु।

इस पर प्रसन्न होकर एवं बिहारी के काव्य एवं संगीत की अभिज्ञता जानकर खानखाना रहीम ने बिहारीलालजी का बड़ा सम्मान किया, और उन्हें कई हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दीं।

डुमराँव-निवासी पं० नकछेदी तिवारी ने कवियों के विषय में बड़ी खोज की है। तिवारीजी ने भारत-जीवन-प्रेस, बनारस से प्रकाशित रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' के आदि में रहीम का जो परिचय दिया है, उसमें लिखा है—

"खानखानाजी पंडित, कवि, मुल्ला, शायर, ज्योतिषी, गवैया, बजवैया, तीरंदाज, बरकंदाज इत्यादि सब गुणवान् मनुष्यों के बड़े कद्रदान थे। इनकी सभा अहर्निश विद्वज्जनों से भरी-पुरी रहती थी। इन्हीं महाराज ने सतसईकार बिहारीलालजी को, एक दोहे पर, खड़ा कराके अशर्फियों से तोपवा दिया था। एक छप्पय पर गंग को छत्तीस लाख रुपया दिया था।"

इसी समय बिहारीलालजी उन बावन राजाओं के यहाँ आने-जाने लगे। वहाँ वह वर्षाशन एवं पुरस्कार प्राप्त करते रहे। पर उनका मुख्य निवास-स्थान आगरे में ही रहा। इसी समय, संवत् १६७८ के लग-भग, बादशाह जहाँगीर का, नूरजहाँ बेगम के कहने से, शाहजहाँ पर कोप हुआ। नूरजहाँ का उद्देश्य बादशाह जहाँगीर के दूसरे लड़के शहर-

यार को, जिससे नूरजहाँ ने अपनी शेर अफगन से पैदा हुई लड़की का विवाह कर दिया था, बादशाह के बाद गद्दी पर बैठाने का था। नूरजहाँ की चालबाजियों के कारण जब शाहजहाँ रुष्ट हो गया, तब उसने बादशाह जहाँगीर के खिलाफ बगावत कर दी। इसमें उसे आगरा छोड़ना पड़ा। इस समय बिहारीलालजी कभी आगरा और कभी मथुरा में रहे, एवं अपना नियत वर्षाशन लेने के लिये भारत के अन्य राजाओं के दरबारों में आते-जाते रहे। अनुमान से यह विदित होता है कि इसी समय बिहारीलालजी का ध्यान एक सुशृंखल तथा प्रयोग-साम्य साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाँचा स्थिर करने की ओर आकृष्ट हुआ। और, वह इसी में दत्त-चित्त रहे। संवत् १६७८ से १६९१ तक का समय बिहारीलालजी ने अध्ययन तथा ब्रजभाषा का साहित्यिक ढाँचा स्थिर करने में लगाया। इसी समय वह जोधपुर एवं बूँदी आदि दरबारों में गए, क्योंकि संभवतः यहाँ के राजा भी उन ५२ नृपतियों में से थे, जिनसे बिहारी को वर्षाशन मिलता था।

उस समय महाराज जसवंतसिंहजी जोधपुर की गद्दी पर थे। यह महाराज स्वयं साहित्य-मर्मज्ञ और सुकवि थे। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि जसवंतसिंहजी का भाषा-भूषण-नामक सुप्रसिद्ध एव आचार्यत्व प्रकट करनेवाला विशद ग्रंथ महाकवि बिहारीलाल जी का ही रचा हुआ है। यद्यपि भाषा-भूषण के दोहे बड़े ही उच्च कोटि के तथा रचना-लाघव के आदर्श कहे जा सकते हैं, एवं उनकी भाषा बहुत ही सुधरी हुई है, तथापि उसमें वैसी टकसाली भाषा नहीं है, जैसी सतसई में है। इससे यह विदित होता है कि बिहारी-लालजी ने यदि भाषा-भूषण की रचना की हो, तो उसका समय सतसई के पूर्व का मानना सगत प्रतीत होता है। सुनने में आया है कि जोधपुर में 'दूहा-संग्रह'-नामक १५-१६ सौ दोहों का एक ग्रंथ

है, जिसमें बिहारी सतसई के भी कुछ दोहे हैं। इससे बिहारीलाल जी का जोधपुर में कुछ समय तक रहना एवं उनका भाषा-भूषण लिखना बहुत संभव प्रतीत होता है। हो सकता है, उक्त 'दूहा-संग्रह' सर्वथा बिहारीलालजी की ही कृति हो, क्योंकि बिहारी-सतसई पर देवकीनंदन की वर्णार्थ-प्रकाशिका टीका में बिहारी के स्वीकृत चौदह सौ दोहों का उल्लेख है, एवं मिश्रबंधु-विनोद में भी केशव की पुत्र-वधू का कवि होना लिखा है। वर्णार्थ-प्रकाशिका टीका में लिखा है—

चौदह सौ दोहा किए तिहिं तिय परम प्रबीन।

अस्तु। यह ग्रंथ अभी देखने में नहीं आया।

बिहारीलालजी वर्षाशन लेने आमेर आते-जाते थे। इस समय शाहजहाँ बादशाह हो चुका था। संवत् १६९१ या १६९२ के लगभग बिहारीलालजी वर्षाशन लेने के लिये आमेर गए थे। महाराज जयसिंह उस समय एक नवीन रानी ब्याह लाए थे। वह उसके सौंदर्य और वयःसंधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात-दिन उसी के महल में पड़े रहते थे। वह राज-काज की सुधि भूल गए थे। उन्होंने यह आज्ञा भी निकाल दी थी कि जो राज-काज की चर्चा से हमारे रंग में भंग करेगा, उसका अंग-भंग कर दिया जायगा। इस आज्ञा से भयभीत होकर कोई उन्हें चेतावनी देने का साहस नहीं कर सकता था। महाराज जयसिंह की मुख्य महारानी—जो करौली के सरदार श्यामदास चौहान की पुत्री थीं, और चौहानी रानी कहलाती थीं—उस समय गर्भवती थीं। उन्हें महाराज के नवीन रानी के फंदे में इस प्रकार फँसने का बड़ा ही दुःख था। इसमें राज्य-हानि और सौतिया डाह दो कारण थे।

बिहारीलालजी ने राजा के पास तक पहुँचने का उद्योग किया, पर वह जब कृतकार्य न हुए, तब आमेरगढ़ के पास ब्रह्मपुरी में, ब्रह्ममंडल

के बीच ठहर गए। उन्हें आशा थी कि राजा शीघ्र ही उन्हें बुलावेंगे, केवल उनके आगमन की सूचना राजा तक पहुंचाने-भर की देर है। दूसरे, वह इतनी दूर का आगमन निष्फल नहीं जाने देना चाहते थे। बिहारीलाल जी के आगमन की सूचना पाकर महाराज के शुभ-चिंतक मंत्रियों, कर्मचारियों तथा चौहानी रानीजी ने, जो बड़ी बुद्धिमती थीं, यह विचार किया कि बिहारीलालजी बादशाह के कृपापात्र और दरबारी कवि हैं। यदि यह महाराज जयसिंह को कोई चेतावनी दें, तो दे सकते हैं; क्योंकि महाराज रुष्ट होकर भी इन्हें दंडित करना उचित नहीं समझ सकते। यह विचार कर एक सभा उनलोगों ने की, और बिहारीलालजी को वहाँ बुलवा भेजा। जब वह वहाँ पहुंचे, तो मंत्री ने आगे बढ़कर उन्हें सादर लिया, और उनसे राजा की स्थिति सुनाकर राजा को कोई चेतावनी देने की प्रार्थना की।

महाकवि बिहारीलालजी मनुष्य-स्वभाव के पारखी तो थे ही, अतः उन्होंने पूर्वापर विचार करके एक दोहा लिखा, जो शृंगारात्मक था। रंगमहल में शृंगारिक कविता पहुँचाने का कोई निषेध नहीं था; अतएव एक दासी के द्वारा बिहारीलालजी के आगमन की सूचनासहित वह दोहा भेजा गया। वह दासी बिना किसी विघ्न-बाधा के उस दोहे को ले गई, और उसे महाराज के हाथ में दे दिया। वह दोहा यह है—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल ;
अली कली ही सौं बँध्यो, आगै कौन हवाल ?

(बिहारी)

जब महाराज जयसिंह के पास बिहारीलालजी के आगमन की सूचना-सहित यह अन्योक्ति-गर्भित, सरस, उपदेश-पूर्ण दोहा पहुंचा, तब उन्होंने दोहे को ध्यान से पढ़ा। दोहा पढ़ते ही महा-

राज जयसिंह का विलास-मद उतर गया। महाराज जयसिंह को अली (भ्रमर) और मुग्धा रानी को कली बनाकर, कितनी विदग्धता से, कैसे अनूठे ढंग से, यह दोहा कहा गया है, इसे मर्मज्ञ देखें। इसमें अपने भौंरे की हित-कामना का बहुत ही गंभीर और हृदय-तल को हिला देनेवाला भाव है। अपने विषयासक्त, कामांध, उपकारी मित्र के भावी अनर्थ की चिंता से अत्यंत व्याकुल होनेवाले कृतज्ञ मित्र की कातरोक्ति का विशद चित्र इस दोहे में अनुपम है। इस दोहे के विषय में प० पद्मसिंह शर्मा ने संजीवन भाष्य के भूमिका-भाग में ठीक ही कहा है—"कहनेवाले की एकांत हितैषिता, परिणामदर्शिता और विपयासक्त मित्र के उद्धार की गंभीर चिंता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किए जा सकते।"

इस दोहे का प्रभाव भी खूब ही पड़ा। जिस कार्य को बड़े-बड़े धुरंधर राजनीतिज्ञ मंत्रियों के विवेक-पूर्ण प्रयत्न न कर सके, उसे बिहारीलालजी ने अपनी कविता के जादू से कर दिखाया। इस दोहे से जयसिंह की आँखें खुल गईं, और फिर शाहजहाँ के ध्यान के धक्के तथा राज्य-काज की चिंता से उनका वह मद उतर गया। उन्होंने सोचा, यदि महाकवि बिहारीलालजी यहाँ से मेरी यह दशा देखकर निरादर-पूर्वक लौट जायँगे, तो शाहजहाँ रुष्ट हो जायगा। उस समय राज्य को खालसा से छूटे थोड़ा ही समय हुआ था। ध्यान रहे, आमेर-पति वीरवर महाराजा मानसिंह के वंश में जब कोई नहीं रहा, तब जहाँगीर ने जोधाबाई के अनुरोध से आमेर की गद्दी और मिर्जा राजा की उपाधि मानसिंह के भाई के पोते जयसिंह को दी थी। गद्दी पाने के कुछ दिनों बाद ही उन्होंने मुग्धा रानी से नवीन विवाह किया था। दोहे के 'आगै कौन हवाल' पद के गूढ़ार्थ का भी राजा पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, और उन्हें बिहारीलालजी को संतुष्ट कर लेना ही उपयुक्त जँचा। महाराज

रंगमहल से बाहर निकल आए। उन्होंने बिहारीलालजी का बड़ा आदर-सत्कार किया, और उन्हें इस सुंदर दोहे पर एक 'पसर' स्वर्ण-मुद्राएँ दीं। इतिहासों से भी यह भली-भाँति प्रकट है कि महाराज जयसिंह जैसे वीर थे, वैसे ही नीति-कुशल और देश-काल के जाननेवाले भी। उन्होंने सोचा, यदि बिहारीलालजी उनके यहाँ से जायँगे, तो वह उनकी स्त्रैणता एवं राज-काज-संबंधी उदासीनता का संवाद स्वयँ बादशाह तथा अन्यान्य नृपतियों को सुनाते फिरेंगे। अतः महाराज ने बिहारीलालजी की काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उनसे कहा, यदि वह कुछ दिन आमेर में रहें और ऐसे ही उत्कृष्ट दोहे बनावें, तो उन्हें प्रति दोहा एक मोहर भेंट की जायगी।

इसी समय चौहानी रानी भी राजा को अपनी सौत के वश से मुक्त एवं राज्य-काज में लगे हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने बिहारीलालजी को अपनी ड्योढ़ी पर बुलवाया, और बहुत-सा पारितोषिक तथा 'काली पहाड़ी' ग्राम उन्हें पुरस्कार में दिया। साथ ही यह भी कहा कि आप हमारी ड्योढ़ी के कवि होकर आमेर में ही निवास करें। चौहानी रानी ने उक्त घटना-संबंधी बिहारीलालजी का चित्र भी बनवाया, जो अभी तक जयपुर के एक महल में विद्यमान है। उस चित्र से उक्त घटना का समाचार सं० १६९२ का प्रतीत होता है। इससे सतसई-निर्माण आरंभ करने का काल भी विदित हो जाता है। इस चित्र से बिहारीलालजी की अवस्था ४० वर्ष के लगभग जान पड़ती है, अतः उनका जन्म संवत् १६५२ में मानना उपयुक्त जान पड़ता है। बिहारीलालजी भी राजकर्मचारियों, मन्त्रियों, एवं महारानी द्वारा समादृत होकर वहाँ रहने और सतसई-निर्माण करने लगे।

उक्त घटना के दो-तीन मास के अनन्तर चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुँवर रामसिंह का जन्म हुआ।

इस अवसर पर जयपुर में बड़ा उत्सव मनाया गया। महाराज जयसिंह तथा चौहानी रानी ने बिहारीलालजी को भी इस अवसर पर बहुत-सा पुरस्कार देकर संतुष्ट किया। कहते हैं, उसी समय बिहारलालजी ने जयसिंह की प्रशंसा में यह दोहा कहा था—

चलतँ पाय निगुनी-गुनी धन-मनि-मुकता-माल,
भेंट भए जयसाह सौं भाग चाहियतु भाल

इसमें जयसिंह द्वारा बेशुमार धन लुटाए जाने का वर्णन है। उनके पास इस समय जो गया, वह खाली हाथ नहीं लौटा। हाँ, केवल भाग्यवान ही उन तक पहुँच सके।

इसी सुअवसर के उपलक्ष्य में कुछ दिनों के उपरांत 'शीशमहल' में एक विशाल दरबार हुआ। इसमें महाराज ने बिहारीलालजी से कविता सुनाने के लिये कहा। महाकवि बिहारीलालजी ने उस समय की महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन करते हुए कहा—

यों राजत जयसाह दुति, दीपति दरपन-धाम,
सब जग जीतन को कियो काय-व्यूह मनु काम।

इस अवसर पर भी बिहारीलालजी को यथेष्ट पुरस्कार प्राप्त हुआ। महाराज जयसिंह शाहजहाँ के राजत्व-काल के आरंभ में खानजहाँ लोदी के साथ दक्खिन में थे। फ़ारसी के इतिहास 'मआसिरुल उमरा' से एक लक्खी जादो* का पता चलता है, जो दक्खिन में दौलताबाद-सरकार के संदखेर का देशमुख और निजामशाही राज्य का एक बड़ा मनसबदार था। यही लक्खी जादो छत्रपति महाराज शिवाजी का नाना था। संभवतः इससे और महाराज जयसिंह से युद्ध हुआ था, और महाराज जयसिंह ने इसे परास्त किया था।

---

*मराठी इतिहासकारों ने इसका नाम लूखजी जादो लिखा है।

जब इसे परास्त कर महाराज जयपुर (आमेर) आए, तब बिहारी-लालजी ने इस जीत के उपलक्ष्य में उन्हें यह दोहा सुनाया—

रहति न रन जयसाहि-मुख लखि लाखनु की फौज,
जाँचि निराखरऊ चलैं लै लाखनकी मौज।

इस दोहे से जान पड़ता है कि इस विजय की खुशी में जयसिंह ने खूब द्रव्य लुटाया था। इस अवसर पर बिहारीलालजी ने भी अवश्य ही बहुत-सा पुरस्कार प्राप्त किया होगा। बिहारीलालजी इस प्रकार समयानुकूल दोहे बनाते हुए सतसई का भी निर्माण करते रहे, जिसके दोहे वह समय-समय पर महाराज जयसिंह को सुनाते रहे, और उन्हें प्रति दोहा एक मोहर के हिसाब से पुरस्कार मिलता रहा।

इसी समय, संवत् १७०० के कुछ पूर्व ही, कुमार रामसिंह का विद्यारंभ कराया गया। बिहारीलालजी चौहानी रानी के कृपा-पात्र और आदरणीय थे ही, अतएव वह कुमार रामसिंह के शिक्षक नियत हुए। इन्हीं कुमार रामसिंह के पढ़ाने के निमित्त बिहारी-लालजी ने दोहों का एक संग्रह बना दिया। इसमें आदि में ५०० दोहे तो उन्होंने अपने रक्खे थे, और शेष अन्य कवियों की कविता थी। इस पुस्तक में बिहारी-सतसई के अतिरिक्त उनके पाँच दोहे और मिलते हैं, जिनमें से तीन ये हैं—

श्रीरानी चौहानि को करतब देखि रसाल ;
फूलति है मन में सिया पहिरि फूल की माल।
दान ग्यान हरि-ध्यान कौं सावधान सब ठौर;
श्रीरानी चौहानि है रानिनु की सिर-मौर।
नित असीस हौं देत हौं, उर मनाइ जगदीस;
रामकुँवर जयसिंह को जीयौ कोरि बरीस।

जान पड़ता है बिहारीलालजी ने सतसई का निर्माण जयसिंह

के कहने से ही किया था। यह बात बिहारीलालजी के इस दोहे से भी प्रकट होती है —

हुकम पाइ जयसाहि को हरि-राधिका-प्रसाद ;
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ।

संवत् १७०४ में महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की चढ़ाई पर गए थे, और वहाँ से बड़ी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाए थे। इस पर उनका आगरे में बड़ा सम्मान किया गया। उनके आमेर लौटने पर वहाँ भी बड़ा उत्सव मनाया गया। इस समय बिहारी-सतसई के दोहे पूरे हो चुके थे, अतः बिहारीलालजी ने इसी घटना की प्रशंसा में निम्नलिखित तीन दोहे और रचे, एवं सतसई में इन्हें जोड़ दिया—

सामाँ सेन सयान की सबै साहि के साथ ;
बाहु - बली जयसाहिजू फतै तिहारै हाथ ।
यौं दल काढ़े बलख तैं, तैं जयसाह भुवाल ;
उदर अघासुर के परे ज्यों हरि-गाय-गुवाल ।
घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि ;
पतिनु राखि चादर-चुरी तैं राखी जयसाहि ।

इस प्रकार सतसई पूर्ण कर इसी अवसर पर बिहारीलालजी ने उसे महाराज जयसिंह को समर्पित किया, और पुरस्कार एवं सत्कार प्राप्त किया।

बिहारीलालजी आमेर में रहते हुए बादशाह शाहजहाँ के दरबार में जाते थे। वहीं उन्होंने पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली से अपने भांजे कुलपति मिश्र को पढ़ाने के लिए कहा, जिसे पंडितराज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, और भले प्रकार कुलपति मिश्र को पढ़ाया। सतसई समाप्त होने तक बिहारीलालजी की स्त्री का देहांत हो चुका था, अतएव उन्होंने अपने गोद लिए पुत्र निरंजनकृष्ण (जो कृष्ण-

लाल भी कहलाते हैं) को जयसिंह तथा रामसिंह के पास छोड़ा, और आप विरक्त होकर श्रीवृन्दावन-धाम, अपने दीक्षा-गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास, चले आये। कुंवर रामसिंह के कहने से कृष्णलाल ने बिहारी-सतसई पर एक गद्यात्मक टीका लिखी, जो संवत् १७१९ में पूर्ण हुई। इसी की समाप्ति का यह दोहा है।

संवत ग्रह ससि जलधि छिति छठितिथि बासर चंद ;
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनँद-कंद

कई लोग इसे बिहारी-सतसई की समाप्ति का काल बतलानेवाला मानते हैं, पर यह भ्रम है। यदि सतसई की समाप्ति का यह दोहा होता, तो प्राचीन टीकाओं और क्रमों में इसका उल्लेख अवश्य होता। पर यह केवल लालचन्द्रिका और एक अन्य अर्वाचीन गद्य टीका में है। लल्लूलालजी ने आजमशाही क्रम अपनाया है, पर आजमशाही क्रम की किसी प्राचीन प्रति में यह नहीं पाया जाता। हाँ, एक गद्य टीका में—जो प्राचीन है, एवं जिसकी प्रति पर लेखक का नाम नहीं है—यह पाया जाता है। यह प्रति श्रीयुत जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' के पास थी। वह इसे कृष्णलाल की टीका कहते थे। अस्तु। यह कृष्णलाल मिर्जा राजा जयसिंह के साथ औरंगजेब के दरबार में भी आया-जाया करते थे। यह बात उनके निम्न-लिखित छंद से, जिसे उन्होंने औरंगजेब की प्रशंसा में कहा है, विदित होती है। वह छंद यह है—

काँपत अमर खलभल मचै ध्रुवलोक,
उडुगन-पति अति संकनि सकात हैं ;
देस के दिनेस के गनेस सब काँपत हैं ,
सेस के सहस फन फैलि-फैलि जात हैं।
आसन डिगत पाकसासन सुकृष्ण कबि,
हालि उठैं दुग्ग बड़े गंध्रप के ख्यात हैं;

चढ़े तें तुरंग नवरंग साह बादशाह,
जिमीं आसमान थर - थर थहरात हैं।

बिहारीलालजी को सतसई रचने के उपरांत कविता से भी विरक्ति हो गई थी। बिहारी-बिहार में लिखा है।

डोरी लागी प्रेम की बृंदावन के माँहिं,
आए स्वामी-थान में सुख-युत जनम सिराहिं।
कविता सों मन हटि गयो, लग्यो कान्ह सों ध्यान;
लाल बिहारी ह्वै गए दास बिहारी मान।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण का भजन करते हुए बिहारीलालजी संवत् १७२१ में परमधाम सिधारे।

इस प्रकार वाल्यावस्था से ही धुरंधर विद्वान्, प्रकांड पंडित और बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओं का सत्संग प्राप्त कर, संस्कृत, फारसी हिंदी, प्राकृत एवं उर्दू आदि भाषाओं का पूर्ण अध्ययन कर, साहित्य एवं संगीत में पूर्णता प्राप्त कर, सम्राट, महाराज, राजा, राव, उमराव, मंत्री, सरदार, विद्वान् एवं महात्मा लोगों से अश्रुत-पूर्व सत्कार और पुरस्कार प्राप्त कर, महाकवि श्री बिहारीलालजी ने अपनी जीवन-लीला संवरण की। बिहारीलाल प्रेमी, उदार एवं आत्माभिमानी कवि थे। उनमें जातीय प्रेम भी था। वह हिंदुत्व के अभिमानी थे। उन्होंने जीवन-भर किसी की अनुचित प्रशंसा नहीं की। उनका जातीय प्रेम इसी से प्रकट है कि उन्होंने अपने महान् संरक्षक मिर्जा राजा जयशाह की, उस विजय पर उनकी कुछ भी प्रशंसा नहीं की, जो उन्हें औरंगजेब की ओर से शिवाजी से लड़ने पर प्राप्त हुई थी।

बिहारीलालजी के विषय में मिश्रबन्धुओं ने भी लिखा है—

"बिहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि स्वयं मिर्जा राजा जयसिंह ने उन्हें हराया था। इससे जान पड़ता है की मुगलों की ओर से जयशाह का शिवाजी से लड़ना इन्हें

भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृ० सं० ३०४)

बिहारीलालजी ने एक अन्योक्ति द्वारा मिर्जा राजा जयशाह को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोकने की भी चेष्टा की थी। वह दोहा यह है—

स्वारथ-सुकृत न, श्रम वृथा, देख बिहंग, बिचारि;
बाज पराए पानि पर तू पच्छीनु न मारि।

(बिहारी)

भावार्थ—हे बलवान् पक्षिराज बाज ! दूसरे (विजातीय) के वश में होकर तू अपने स्वजातीय पक्षियों को न मार। हे स्वच्छंद बिहारी, दूरदर्शी विहग ! तू अपने मन में थोड़ा विचार करके तो देख। इस काम में न तो तेरे किसी स्वार्थ की सिद्धि होती है, और न यह कार्य सत्कार्य ही है, जिससे यश और पुण्य प्राप्त हों। इसमें तुझे श्रम करना व्यर्थ है।

जयसिंह पर इस दोहे का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था, और वह शिवाजी से संधि कर उन्हें बादशाह औरंगजेब के पास मनसबदारी दिलवाने के लिए किस प्रकार लाये थे, यह घटना इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध है। इस पर अधिक लिखना यहाँ अप्रासंगिक जान पड़ता है। बिहारीलालजी में जातीय भावना थी, इसके एकाधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता के प्रबल शत्रु, अंध-भक्त, मुस्लिम-पक्षपाती और अत्याचारी औरंगजेब बादशाह के हिंदुत्व-विनाशक अत्याचारों का प्रभाव सहृदय महाकवि बिहारीलालजी पर अवश्य ही पड़ा था। उन्होंने महाराज मानसिंह का जो चित्र अंकित करके अपने निम्नलिखित कवित्त में रक्खा है, उससे यह पता चलता है कि वह मानसिंह

को हिंदू-हित-रक्षक की दृष्टि से भी देखते थे। वह मानसिंह को उन हिंदुओं में से समझते थे, जो अवसर देखकर बादशाह से मिल गए थे, पर भीतर-ही-भीतर विदेशी मुसलमानों से द्वेष करते थे। वह अवसर प्राप्त होते ही बादशाह से मिलकर मुसलमानों को निर्बल करने का प्रयत्न करते थे। इतिहास से भी यह पता चलता है कि मानसिंह ने काबुल के मुसलमानों का बल तोड़ा था, और बंगाल के पठानों को बड़ी तेजी से कुचलने में अतुल शौर्य दिखाया था। स्वय बादशाह अकबर भी मानसिंह को सशंक दृष्टि से देखता था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने अपने Annals of Rajasthan-नामक ग्रंथ में लिखा है "अकबर ने मानसिंह से डरकर उसे जहर देने का प्रयत्न किया था, जिसे भूल से खुद खा गया, और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।" अस्तु। जो हो, पर बिहारीलालजी ने मिर्जा राजा जयसिंह तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज कुमार रामसिंह के सम्मुख उनके प्रबल प्रतापी पूर्व-पुरुष महाराज मानसिंह के चरित्र के जिस आदर्श को प्रशंसात्मक समझकर उपस्थित किया था, वह निम्न-लिखित कवित्त में है। बिहारीलालजी लिखते हैं—

महाराजा मानसिंह पूरब पठान मारे,
सोनित की सरिता अजौं ना सिमिटत है;
'सुकबि बिहारी' अजौं उठत कबंध कूदि,
आजु लगि रन तैं रनोही ना मिटत है।
आजु लौं पिसाचन की चहलन तैं चौंकि-चौंकि
सची-मघवा की छतियाँ सों लपटति है;
आजु लगि ओढ़ैं हैं कपाली आली-आली खालैं,
आजु लगि काली-मुख लाली ना मिटत है *।

---

* सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ और विद्वान् स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने बड़े परिश्रम और खोज से राजपूताने के कवियों के विषय में जो

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी में जातीयता थी, एवं उन्होंने अपने प्रिय शिष्य कुमार रामसिंह में भी जातीय भावना भरी थी। यह बिहारीलालजी की ही शिक्षा का फल था कि महाराज रामसिंह के समय में जब हिन्दुओं के जातीय महाकवि भूषण त्रिपाठी आमेर गए, तब भूषण का यथोचित आदर-सत्कार हुआ, और उन्हें पुरस्कार भी दिया गया। उस समय भूषण ने उनके वंश की प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद कहा था—

अकबर पायो भगवंत के तनै सों मान,
  बहुरि जगतसिंह महा मरदाने सों;
'भूषन' यों पायो जहाँगीर महासिंहजू सों,
  शाहजहाँ पायो जयसिंह जगजाने सों।
अब अवरंगजेब पायो रामसिंहजू सों,
  औरौ दिन दिन पै है कूरम के माने सो;
केते रावराजा मान पावैं पातसाहन सों,
  पावैं पातसाह मान मान के घराने सों।

खैर, जो हो, पर यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी में जातीय प्रेम और हिंदुत्व की भावना थी। तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी प्रखर-प्रतिभा-संपन्न कवि थे, जिन्हें अनेक विद्याओं और कलाओं का अच्छा ज्ञान था। वह प्रेमी पुरुष थे। भारत-प्रसिद्ध महात्माओं से लेकर सम्राट् तक उनका आदर करते थे। वह बहुदर्शी तथा देश-

'कविरत्न-माला' नाम की पुस्तक लिखी है, उसमें सतसईकार बिहारीलालजी का यह कवित्त मिर्जा राजा जयशाह के दादा महाराज मानसिंह की प्रशंसा में कहा गया लिखा है। इस कवित्त को कविराजा मुरारिदानजी ने भी अपने 'जसवंत-जसोभूषण' में सतसईकार बिहारीलालजी का ही माना है।

कालज्ञ महाकवि थे। उनका पांडित्य और अनुभव बेहद बढ़ा-चढ़ा था। काव्यानंद में मस्त रहना ही उनके जीवन का एकांत उद्देश्य था। इसी से उनकी कविता रस से सराबोर है। उसमें कला की प्रधानता है; संदेश की नहीं। हाँ, उत्तम कला के साथ कवि के अनुभव और ज्ञान का निचोड़ उसकी रचना में है, पर उसमें भी प्रधानता काव्य की है, वह तो आपसे आ गया है।

सतसई-परिचय

हिंदी-काव्य-शिरोमणि और सहज-रसीली व्रजभाषा के पीयूष-वर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी की एकमात्र रचना उनकी सतसई है। इसमें सब मिलाकर सात सौ उन्नीस दोहे हैं। इसकी रचना मुक्तकों में हुई है, और मुक्तक-रचना में जो गुण होना चाहिये, वह बिहारी की सतसई में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त है, यह निस्सन्देह है।/इसका प्रत्येक छंद स्वतंत्र है। इसी से सतसई का कोई क्रम नहीं है। मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब के पुत्र आज़म-शाह ने इसका एक क्रम स्थिर कराया था, जो आजमशाही क्रम कहलाता है। सतसई के अनेक टीकाकारों ने इसी क्रम को अपनाया है। इस अनूठी, अप्रतिम काव्य-मंजूषा सतसई में महाकवि बिहारीलालजी ने जिन दोहा-रत्नों को यत्र-तत्र बिखेर कर रक्खा है, उनकी चमक-दमक पर काव्य-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ सदियों से हृदय न्योछावर करते आये हैं। उनकी-सी लोकोत्तर-आनंद-दायिनी कवि-कल्पना, उनकी-सी दूरदर्शिता, उनकी-सी बाह्य और अंतरंग प्रकृति-पर्यवेक्षण-चातुरी, उनकी-सी भाव-माधुरी, उनकी-सी सजीव भाव-प्रतिमा, उनकी-सी व्यापक-ज्ञान-गरिमा, उनकी-सी व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, प्रसाद-गुणमयी, भाव-प्रवाहिका, सजीव अलंकृत, मधुर, प्रांजल भाषा, उनकी-सी सजीव-शब्द-चित्र-निर्माण-कारिणी कुशलता और उनकी-सी भाव-पूर्ण पद-स्थान-प्रणाली काव्य-जगत् के विरले ही महाकवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं की इनी-गिनी सूक्तियों में कठिनता से प्राप्त हो सकती है।

बिहारी-सतसई में रस का सागर लहराता है। मनुष्य के मन-

सागर की भावना-तरंगों के सहज-सुकुमार सजीव चित्र खींचने में बिहारीलालजी की प्रतिभा अप्रतिम है। मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर, प्राकृतिक तारतम्य का साम्य मिलाकर, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, भावानुगामिनी, सरस भाषा में मंजुल भावों की सजीव कल्पना-मूर्तियों को संगीत-मधुर काव्य-कला के क्षेत्र में उपस्थित करने में बिहारीलालजी अद्वितीय ही हैं। इस सिद्ध सारस्वतीक महाकवि ने कुल ७१९ दोहों में अपने प्रगाढ़ पांडित्य, व्यापक ज्ञान, सर्वतोन्मुखी प्रखर प्रतिभा और परमोत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता का परिचय पूर्णरूपेण दे दिया है। इसमें नव रस, तेंतीस संचारी भाव, नव स्थायी भाव, संपूर्ण कायिक, मानसिक और सात्त्विक अनुभाव, नायक-भेद, नायिका-भेद, हाव, सखी, दूती, संयोग, बिरह, विरह-निवेदन, मान, परिहास, हास, नख-शिख, छ ऋतु, भक्ति, धर्म-नीति, सामान्य नीति, राजनीति, अन्योक्ति, संपूर्ण अर्थालंकार, संपूर्ण शब्दालंकार, ध्वनि और व्यंग्य आदि के साथ-साथ सांसारिक विशाल अनुभव के सैकड़ों अनुभूत विषयों का प्रकृष्ट वर्णन देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सतसई में काव्यांगो के ऐसे-ऐसे विशद उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनकी जोड़ के उत्कृष्ट और साफ उदाहरण श्रेष्ठतम साहित्य-रीति-ग्रंथों में भी ढूंढ़े नहीं मिल सकते।

बिहारी-सतसई में शृंगार-रस का वर्णन प्रधान है। स्मरण रहे, शृंगार विश्व का आदि रस है। इसी रस की झलक हमें इस सृष्टि के रचयिता ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुः स्याम' की भावना के अंतस्तल में दृष्टिगोचर होती है। यही एक ऐसा रस है, जिसमें संपूर्ण मनोभावों का वर्णन हो सकता है। इसी के द्वारा मनुष्य-जाति ने जीवन और उत्कर्ष प्राप्त करके अपनी परंपरा कायम रक्खी है, और उदार-हृदय होकर अनेक कलाओं तथा विद्याओं को प्रकट किया है। इसके स्थायी

भाव प्रेम के विषय में कहा ही क्या जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रेम-भाव की समता का कोई भी भाव इस विश्व में नहीं है। प्रेम के आकर्षण-सूत्र से ही इस संसार का संपूर्ण कार्य चलता है। फिर जिस रस का स्थायी भाव ही प्रेम हो, उसकी भावोत्कृष्टता और श्रेष्ठता के विषय में संदेह ही कैसे किया जा सकता है। इसी प्रेम से उदार-हृदय होकर संसार के भक्तों और दार्शनिकों ने परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम का परिचय प्राप्त किया है। यही कारण है कि संपूर्ण विश्व के संपूर्ण प्रतिभाशाली महाकवियों की रचनाओं में शृंगार-रस के वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। फिर इस रस का विस्तार भी सर्वापेक्षा अधिक है, और जितने भेदों तथा उपभेदों के साथ जितने मनोभावों का वर्णन इस रस में एवं इसके साथ हो सकता है, उतना अन्य रस के साथ स्वप्न में भी संभव नहीं। इसी से यह कहा जाता है—"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जात रसमयं जगत्।" यदि कवि शृंगारी हो, तो उसकी रचना संसार को रसमय करने में पूर्ण समर्थ होती है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी भाव-धारावाले साहित्य अर्थात् काव्य के प्रधान एव सर्वश्रेष्ठ मनोभाव प्रेम का वर्णन अद्वितीयप्राय किया है। इसमें भी मानवीय शृंगार और भक्ति-शृंगार के आर्य-साहित्य में जो दो प्रधान भेद माने गए हैं, उन दोनों का सतसई में श्रेष्ठतम वर्णन पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सतसई में जो कुछ रचना है, वह भी ऐसो उत्कृष्ट है कि उसे देखकर स्तंभित होना पड़ता है। सच तो यह है कि इस महाकवि का प्रत्येक दोहा साहित्याकाश का समुज्ज्वल, प्रभा-पूर्ण नक्षत्र है। बिहारीलालजी ने सतसई में जिस विषय को लिया है, उसका वर्णन इतना उत्कृष्ट किया है कि वहाँ तक अन्य कोई भी कवि, प्रयत्न करने पर भी, नहीं पहुँच सका। इस महाकवि ने भाषा और भाव का ऐसा अद्भुत मेल मिलाया है कि उसकी

प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। मानव-प्रकृति के कोमल-से-कोमल मनोभावों का वर्णन—काव्य-रीति का पूर्ण पालन करते हुए, बाह्य और आभ्यतर प्रकृति के सामंजस्य के साथ, ध्वनि-काव्य में, शब्द और अर्थ के मनोहर अलंकारों में—जिस विदग्धता से इस महाकवि ने किया है, वह सर्वथा अवर्णनीय है॥

'सतसई' या 'सतसैया' शब्द संस्कृत-भाषा के सप्तशती या सप्तशतिका शब्दों के रूपान्तर हैं, जिनका अर्थ 'सात सौ पद्यों का संग्रह' होता है। सतसई की रचना के पूर्व ही प्राकृत और संस्कृत में गाथा-सप्तशती (श्रीसातवाहन-संगृहीत) और आर्या-सप्तशती की रचना हो चुकी थी। महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने सतसई की रचना प्रारंभ करने के पूर्व इन ग्रंथों का अध्ययन बारीकी से कर लिया था, और फिर इन्हीं आदर्श ग्रंथों के समान ब्रज-भाषा में सतसई की रचना की। बिहारी के पूर्व हिंदी में दोहों में सतसई लिखनेवालों में गोस्वामी तुलसीदासजी और कवि-श्रेष्ठ सम्माननीय दोहाकार रहीम ने मुक्तक-रचना के अच्छे चमत्कार दिखलाए हैं, पर विश्व-प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास की तुलसी-सतसई भी बिहारी-सतसई से बहुत नीचे रह गई है। बिहारी के बाद तो फिर ऐसी सतसइयों का एक तांता लग गया। इनमें मतिराम-सतसई, शृंगार-सतसई, वृंद-सतसई, रतन-हजारा एवं विक्रम-सतसई आदि अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं। पर इनमें से एक भी उसे नहीं छू सकतीं। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का जैसा आदर हुआ, वैसा फिर राम-गीता, देवी गीता, अष्टावक्र-गीता आदि को कभी न मिला। जिस प्रकार केवल 'गीता कहने से श्रीमद्भगवद्गीता का बोध हो जाता है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में 'सतसई' कहने से बिहारी-सतसई का बोध हो जाता है। विश्व-विख्यात महाकवि गोस्वामीजी का आसन उनके महाकाव्य रामायण के कारण कितना

ही उच्च क्यों न हो, पर मुक्तक-रचना की दृष्टि से वह भी महाकवि बिहारीलालजी के सामने नहीं ठहरते। बिहारीलालजी की सतसई गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती और अमरुकशतक के समान ही नहीं, किंतु कई अंशों में उनसे भी श्रेष्ठ-बहुत श्रेष्ठ है।

सतसई के प्रारंभ काल से लेकर आधुनिक काल तक उसका एकसा परमोच्च सम्मान सहृदय काव्य-मर्मज्ञों एवं साहित्य-मर्मज्ञ, ग्रंथकार महाकवियों तथा रीति-ग्रंथों में रहा है। इसकी प्रशंसा में निम्नलिखित दोहे प्राचीन काल से ही अत्यंत प्रसिद्ध हैं, और अद्यावधि साहित्य-मर्मज्ञों में प्रमाण माने जाते हैं—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ;
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।
ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-बिसाल ;
सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।
जो कोऊ रस-रीति को समुझै चाहै सारु ;
पढ़ै बिहारी-सतसई कबिता को सिंगारु।
उदै-अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह ;
सुनत बिहारी-सतसई सबहिं सराह-सराह।
भाँति-भाति के बहु अरथ यामें गूढ़-अगूढ़ ;
जाहि सुनै रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़।
बिबिध नायिका-भेद अरु अलंकार नृप-नीति ;
पढ़ै बिहारी-सतसई जानै कबि रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा सुकबि बिहारीदास ;
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सबिलास।

सतसई के रचना-काल से ही इस अनुपम काव्य-कोष का अश्रुत-पूर्व गौरव रहा है। उसी समय से साहित्यिक महारथी इस गागर में भरे सागर की लहरों पर काव्य-मर्मज्ञता का पोत लिए भटकते फिरे हैं। इनमें बड़े-बड़े महाकवि और साहित्य-शास्त्र-निष्णात विद्वद्‌वृंद-वंदित महापुरुष भी रहे हैं। हम देखते हैं, सतसई की रचना पूर्ण होते ही उस पर मानसिंह और कृष्णलाल कवि की गद्य-टीकाओं एवं कृष्ण कवि की पद्यात्मक टीका की रचना होती है। फिर उस समय से आज तक न जाने कितनी गद्य-पद्यमयी टीकाएँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। स्वर्गवासी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' में अपने पास ५० टीकाओं का होना एवं उन्हें पढ़कर फिर 'रत्नाकरी' टीका लिखना स्वीकार किया है। पर यह संख्या ठीक नहीं है। मुझे 'मध्यप्रांतीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखने के संबंध में अपने प्रांत में बिहारी-सतसई की अनेक टीकाओं का पता लगा है, जिनका उल्लेख श्री रत्नाकर एव श्री मिश्रबंधुओं ने नहीं किया है। इनमें चार पद्यात्मक टीकाएँ मेरे देखने में आई हैं, जिनमें साहित्यिक छटा का मनोरम रूप है। मेरा विश्वास है, हिन्दी-साहित्य की खोज में उतनी टीकाएँ तो निश्चित रूप से मिल ही जायँगी, जितनी वर्ष आज बिहारी-सतसई की रचना को हुई हैं। इतनी टीकाएँ हिन्दी-भाषा के किसी भी काव्य-ग्रंथ की नहीं हुईं। इन टीकाकारों में कविवर कृष्णलाल, कृष्ण कवि, कविवर सूरति मिश्र, कविवर ठाकुर, लल्लूलालजी, पठान सुल्तान, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, कविवर प्रतापसाहि, अंबिकादत्त व्यास, घटिकाशतक, हरिप्रसाद शास्त्री, कविवर परमानंद, पं० पद्मसिंह शर्मा और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की टीकाएँ अच्छी हुई हैं। इनका सम्मान भी है।

हिन्दी-साहित्य के अध्ययन करनेवाले काव्य-मर्मज्ञों को यह

भली भाँति विदित ही है कि महाकवि श्रीबिहारीलालजी के भाव हिन्दी के जितने कवियों ने अपनाए हैं, उतने अन्य किसी के भी नहीं अपनाए। सतसई की भावोत्कृष्टता के कायल हिन्दी के सैंकड़ों ही सुकवि थे, और इनमें भी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार कवीश्वरों ने बिहारी-सतसई के आगे भावों के लिये हाथ फैलाए हैं। पचासों गद्य-पद्यात्मक टीकाओं की रचना हो जाने पर भी साहित्य-मर्मज्ञ, कला-निष्णात कवीश्वरों को संतोष न हुआ, और उन्होंने भावापहरण किया। पर उन तक कोई भी नहीं पहुँच सका। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि इसमें ऐसा अप्रतिम, प्रतिभाशाली महाकवि पैदा हुआ। बिहारी-सतसई के दोहों का भावापहरण कर मुक्तक लिखनेवालों में महाकवि मतिराम, प्रसिद्ध कवि देव, महाकवि और आचार्य श्रीभिखारीदास, महाकवि पद्माकर, कविवर महंत शीतलदास, शृंगार-सतसईकार रामसहाय, कविवर तोष, कविवर गिरिधरदास, कविवर रसलीन, कविवर रसनिधि, कविराज सुखदेव मिश्र, वृंद-सतसईकार कविवर वृंद, विक्रम-सतसईकार महाराज विक्रमादित्य, सुकवि मंचित, महाकवि हरिनाथ, महाकवि घनानंद, कविवर दूलह, कविवर घासीराम, महाकवि कालिदास त्रिवेदी, महाराजा मानसिंह 'द्विजदेव', चिरजीवी कवि और कविवर किशोर आदि महान् एवं सुप्रसिद्ध काव्य-कला-निष्णात कवीश्वर हुए हैं *। यथार्थ तो यह है कि बिहारीलालजी के बाद ब्रज-भाषा में लिखनेवाला कदाचित् ही कोई ऐसा कवि मिले, तो मिले, जिसकी रचना पर बिहारी-सतसई का अमिट प्रभाव न पड़ा हो।

---

* इस प्रकार के भावापहरण के उदाहरण मैंने सैकड़ों की संख्या में सग्रह किए हैं, पर यहाँ उन्हें विस्तार-भय के कारण उद्धृत करने में असमर्थ हूँ।

मानो बिहारी-सतसई के पद्यात्मक टीकाकारों एवं सतसई के दोहों का भावापहरण कर नवीन छंद बनानेवालों को लक्ष्य कर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं—

"जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कुंडलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गंगा का समृद्ध वेग प्रवाह है, जो शिवजी की लटों से निकलकर फिर किसी के काबू में नहीं आता। इ जीनियर, लाख कारस्तानी कर हारे, पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े-से-बड़े गढ़े में भरकर रोक रखना सामर्थ्य से बाहर की बात है। हो नहीं सकता—ऐसा हो नहीं सकता।"

गद्यात्मक टीकाकारों को लक्ष्य कर वीर-सतसईकार श्री वियोगी-हरि लिखते हैं, "इनका एक-एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीरसागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं। बिहारी-सतसई के रत्नों की अनेक जौहरियों ने परख की, किंतु उनकी ठीक-ठीक कीमत कोई भी नहीं पड़ताल सका। कितनी टीकाएँ हुईं, कितनी युक्तियाँ पेश की गईं, पर यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि अमुक सोरठे का केवल यही अर्थ है। सच है—

लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गुरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

(बिहारी)

'नूत्नं-नूत्नं' पदे-पदे देखकर 'नेति-नेति' ही कहते बनता है।"

हिंदी-साहित्य के संपूर्ण इतिहासकार अपने ग्रंथों में बिहारी-सतसई का यशोगान करते आए हैं। हिंदी के साहित्य-शास्त्र-विवेचक सतसई के अनेक दोहे ध्वनि, व्यंग्य, रस एव अलकार के उत्कर्ष के संबंध में अपने मान्य गवेषणात्मक ग्रंथों में उद्धृत

करते आए हैं। कविराजा मुरारिदान के 'जसवंत-जसोभूषण' और श्री कन्हैयालालजी पोद्दार के 'काव्य-कल्पद्रुम' में ऐसे अनेक उदाहरण स्थल-स्थल पर मिलेंगे।

हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ माननीय कोष-ग्रंथ 'हिंदी-शब्द-सागर में बिहारीलालजी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखा है—

"शृंगार-रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिंदी-साहित्य में रत्न माना जाता है।....बिहारी संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्व-प्रियता का अनुमान हो सकता है।........यही एक ग्रंथ बिहारी की इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों के द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक मर्मस्पर्शी खंड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिये कवि को अत्यंत मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की शक्ति को छोटे-से स्थल में कसकर भरने की जितनी ही अधिक क्षमता होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वह दोहे-ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं,

रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं। बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों की और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है।....."

(आठवाँ खंड, पृष्ठ १३५-१३६)

बिहारी-सतसई के अनुवाद देव-वाणी संस्कृत, राजभाषा अँगरेजी, उर्दू और गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं। संस्कृत में सतसई के गद्य-पद्यात्मक तीन अनुवाद हैं। यदि देव-वाणीवाले देवता लोग किसी हिंदी-ग्रंथ की साहित्यिक महिमा को मान सके हैं, तो वह बिहारी-सतसई है। इस ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त अन्य कोई हिंदी अथवा बँगला, मराठी या गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं का काव्य-ग्रंथ संस्कृत-भाषा में इस प्रकार अनुवादित नहीं हुआ। अँगरेजी-साहित्य के मर्मज्ञ, समर्थ अँगरेजी समालोचक भी इस ग्रंथ-रत्न पर लट्टू हो जाते हैं। इसकी चर्चा में अनेक विद्वान् अँगरेज समालोचकों ने बड़ी प्रशंसा गाई है। भारतवर्ष के Imperial Gazetteer जैसे प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ में हिंदी के केवल तीन अतिरथियों की चर्चा की गई है। इनमें तुलसी, सूर और बिहारी हैं। इसमें सतसई और बिहारी के विषय में लिखा है—

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharilal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix syllables, and generally contained less. Neverthless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or a phase of nature,

in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous. The successive compression necessitated renders the poems extremely difficult and he has been aptly named 'The mine of the Commentators' but no one who reads them can resist admiring the appropriateness and elegance alike of his diction and his thoughts. He is particularly in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal South, adust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-beaded with rosedew for sweat, and lingering, reath the trees, resting himself, and inviting others to repose........"

(Imperial Gazetteer of India, Vol. II, p. 423.)

पाश्चात्य और पूर्वीय साहित्य-मर्मज्ञ श्रीएफ़० ई० की महोदय अपने 'A History of Hindi Literature'-नामक ग्रंथ में बिहारी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखते हैं—

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry is Bihatilal Choube....Biharilal's fame as a poet rests upon his Satsai which is a collection of approximately seven hundred 'Dohas' and 'Sorthas'. The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself. They are intended to illustrate figures of rhetoric and other constituents of a poem............Tulsidas had written a Satsai before

the time of Biharilal as well as other Hindi poets. But Biharlal has undoubtedly achieved very great excellence in this particular line, and his work has had a large number of commentators and many imitators·······Each couplet had to be complete in itself, and yet in such a small space the poet must give an entire picture. Conciseness of style was therefore an absolute necessity, and besides this all the different artifices of Indian rhetoric had to be illustrated in turn. The work of Biharilal is a triumph of skill and of felicity in expression." (Pages 44.)

हिंदी-साहित्य के धुरंधर विद्वान् समालोचकों ने इस ग्रंथ-रत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदी-साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के आविष्कर्ता प० पद्मसिंह शर्मा का मत है—

"सहृदय पाठकगण ! यह बात अति प्रसिद्ध है कि ब्रज-भाषा के साहित्य में 'बिहारी-सतसई' का दर्जा बहुत ऊँचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट काव्य-गुणों की वह खान है, व्यंग्य और ध्वनि का आकर है। संस्कृत-कवियों में कवि-कुल-गुरु कालिदास जिस प्रकार शृंगार-रस-वर्णन, प्रसाद गुण, उपमालंकारादि के कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं. उसी प्रकार हिंदी कवियों में महाकवि बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगार-रस-वर्णन, पद विन्यास-चातुरी, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते। ब्रज भाषा की मधुरता तो जगत्प्रसिद्ध ही है, फिर उसमें बिहारी की कविता ! 'हेम्नः परमा मोदः' सोने और सुगंध का योग है ! अथवा रत्न-जटित स्वर्ण के कटोरे में मिसरी का शर्बत, नहीं, अमृत-रस, भरा

हुआ है, जिसका पान करते ही मन तन्मय हो जाता है। आलंकारिकों ने, जो काव्य-रस को 'रसानंद सहोदर' माना है, उसकी सत्यता का साक्षी अन्तःकरण बन जाता है (पृष्ठ २४५)। बिहारी के पूर्ववर्ती, समसामयिक और परवर्ती हिंदी-कवियों की कविता में और बिहारी की कविता में भी कहीं-कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है। पर ऐसे स्थलों में बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों को प्रायः पीछे छोड़ गए हैं; समसामयिकों से आगे रहे हैं, और परवर्ती उन्हें नहीं पा सके हैं (पृष्ठ १००)। बिहारी की कविता शृंगारमयी कविता है। यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रंग में भी बिहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिमाण में थोड़ा होने पर भी भाव-गांभीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सबसे बढ़ा-चढ़ा है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर-सुनकर बड़े-बड़े नीति-धुरंधर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गए हैं।........ बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है, उतनी ही गहरी, गूढ़ और गंभीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहरता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी, पर वर्तमान समय के सुरुचि-संपन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना हुआ है।........उसकी गंभीरता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय-समय पर अनेक कवि-विद्वानों ने उस पर पद्य में, गद्य में, संस्कृत में, हिंदी में, टीका-तिलक किए, पर........गहराई की थाह नहीं मिलती।........ कोई भी टीकाकार चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्य-भरित भाव-सौंदर्य को यथार्थतया अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका। सब खाली खाके खींचकर ही रह गए।"

(सतसई-संजीवन-भाष्य भूमिका भाग)

पं० रामचंद्र शुक्ल हिंदी-साहित्य के माननीय विद्वान्, समालोचक हैं। इन्होंने भी अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में महाकवि बिहारी और उनकी सतसई की भारी प्रशंसा की है। इनका मत हिंदी-शब्द-सागर का ही मत है, जो पहले दिया जा चुका है। हिंदी के सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में बिहारीलालजी के गुणों में भी दोष देखे हैं, और उन पर अनेक अनर्गल एवं निंद्य आक्षेप किए हैं, पर इन महानुभावों को भी अंत में विवश हो यह लिखना ही पड़ा है—

"इस एक छोटे-से ग्रंथ (सतसई) में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १४५२ पंक्तियों में मानो सब कुछ आ गया है। और, कविता का कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा खजाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका। जैसे एकाग्रता और श्रम से इन कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहु कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है।........बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी।......इन कविवर ने संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है।........इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बातचीत एक-एक दोहे में भर दी है।........मानुषी प्रकृति के सबंध की जितनी बातें इन महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चीज निकालकर इन्होंने रख दिए हैं, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं कर सका होगा। इन सात सौ दोहों में खूबियाँ ठूँस-ठूँसकर

भरी हुई हैं।........इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा-सादा सच्चा रूप ही दरसा दिया है।........प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ हैं।........अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है।........इन्होंने अपने बहुत से ऐसे ऊँचे और खास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० सं०, पृ० २७८ से २९९ तक)

ब्रज-भाषा साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी के साथ अपने ग्रंथ 'देव और बिहारी' में घोर अन्याय किया है, और उन्हें येन-केन प्रकारेण देव से हीन सिद्ध करने के लिये उनके विषय में बहुत कुछ निंदात्मक ढंग से लिखा है, तथा उनके गुणों में भी दोष देखे हैं; पर इतना तो उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा है—

"ब्रज-भाषा-काव्य के गौरव कविवर बिहारीलाल को हिंदी साहित्य-संसार में कौन नहीं जानता। हिंदी कविता का प्रेमी ऐसा कौन-सा अभागा व्यक्ति होगा, जिसे जगत्प्रसिद्ध सतसई के दो-चार दोहे न स्मरण होंगे? यह बड़े ही आनंद का विषय है कि........ एक बार फिर सतसई पर समयानुकूल प्रचलित भाषा में विद्वत्ता-पूर्ण सटीक ग्रंथ लिखे जाने लगे हैं। एक बार फिर सतसई की कीर्ति-कौमुदी के शुभ्रालोक में साहित्य-संसार जगमगा उठा है, यह कितने अभिमान और संतोष की बात है। बिहारीलाल का एक-एक दोहा उनके गंभीर अध्ययन की सूचना देता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य का बड़े ही ध्यान के साथ मनन किया है (पृष्ठ ३१६)। बिहारीलाल का ज्ञान भी परिमित न था। दुनिया के ऊँच-नीच का उन्हें पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था।....

उनकी अन्योक्तियाँ चमत्कार पूर्ण हैं।........वह परम प्रतिभावान् कवि थे (पृष्ठ १३६)।" [देव और बिहारी, द्वि० स०]

आधुनिक काल के ब्रज-भाषा-मर्मज्ञ, सफल मुक्तक-लेखक कवीश्वरों में स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर', श्रीवियोगी हरि और श्रीदुलारेलालजी भार्गव सर्व-श्रेष्ठ माने गए हैं। 'रत्नाकर' महोदय ने तो अपने जीवन के अनेक वर्ष सतसई के अध्ययन में लगाकर 'बिहारी-रत्नाकर'-नामक टीका लिखी है, श्रीबियोगी हरि की सम्मति हम पहले उद्धृत कर आए हैं, और श्रीदुलारेलाल भार्गव ने तो 'बिहारी-रत्नाकर' के संपादकीय निवेदन में स्पष्ट ही लिखा है—

"गोस्वामी तुलसीदासजी के राम-चरित-मानस के बाद सतसई ही समस्त सुशिक्षित समाज में सबसे अधिक समादृत हुई है। जितना शृंगार-रस-वाटिका से इस सुविकसित और सुगंधित सुमन का सौंदर्य सहृदयों के चित्त में चुभा, और आँखो में खुबा है, उतना औरों का नहीं। अन्यान्य अनेक कवियों की कविता-कामिनियाँ भी कमनीयता में कम नहीं, किंतु सतसई-सुंदरी की-सी सुंदरता उनमें कहाँ? इस सुंदरी की सरस सूक्ति चितवनों के विषय में तो मानो स्वयं कवि ने ही कह दिया है—

'अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि जहान;
वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान।'

सतसई के सुविस्तृत सम्मान के प्रमाण में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस पर पचासों टीकाएँ बन जाने पर भी यह क्रम अभी तक जारी है। शृंगारी कवियों में बिहारी का स्थान अत्यंत ऊँचा है। नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहे भी उन्होंने अवश्य लिखे हैं, किन्तु सतसई में प्रधानता शृंगार-रस ही की है। प्रत्येक पद्य उनकी प्रशस्त प्रतिभा का परिचायक है। उच्च कोटि की काव्य-

कला, व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारी अपना जोड़ नहीं रखते (पृष्ठ ११)।" *

आधुनिक काल में भारत में विदेशियों की सत्ता के प्रभाव एवं विश्व की नवीन प्रगति के आघात से हिंदी-साहित्य में काव्य की जो नवीन धारा प्रवाहित हुई है, इसके मनस्वी और यशस्वी हिंदी-कवियों में कविवर पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और कविवर प० सुमित्रानंदन पंत अग्रगण्य हैं। मैं जब गत वर्ष लखनऊ गया था, तब श्रीदुलारेलालजी के यहाँ, कवि-कुटीर में, इन दोनों विद्वान् कविवरों से मेरी भेंट हुई थी। उस समय वार्तालाप के सिलसिले में इन कुशल, कलाकार कवियों ने स्पष्ट शब्दों में बिहारीलालजी को अत्यंत श्रेष्ठ कलाकार, महाकवि और सतसई को उच्च कोटि की काव्य-कला का अनूठा निदर्शन स्वीकार किया था। निष्कर्ष यह कि जगत्-प्रसिद्ध सतसईकार, महाकवि बिहारीलालजी विश्व के इने-गिने सम्माननीय, सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से हैं, और उनकी कृति सतसई काव्य-कला के चरम उत्कर्ष का आदर्श है।

———

* श्रीराधाचरण गोस्वामी ने बिहारीलालजी की रचना के विषय में लिखा है—

"यदि 'सूर-सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास' हैं, तो बिहारी पीयूष-वर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा-विचार

किसी काव्य की उत्तमता की जाँच करने के लिये हमें केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि उसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव किस प्रकार रस बनकर काव्य में लोकोत्तर-आनंद प्रदान कर रहा है, वरन् यह भी आवश्यक है कि हम उस काव्य की भाषा को भी ध्यान-पूर्वक देखें। यह समझना भूल है कि व्यापारिक भाषा के समान काव्य की भाषा केवल भाव प्रकट करने का साधन है; क्योंकि यथार्थ में काव्य की भाषा का उद्देश्य भाव को मूर्तिमान् करने का है। भाषा का भावानुगामिनी होना अत्यंत आवश्यक है। यदि भाव कविता का प्राण है, तो भाषा कविता का शरीर। सुंदर स्वभाववाली नारी, जिसका शरीर सुडौल न हो, रंग अच्छा न हो, मन को मोहने में सहसा समर्थ नहीं हो सकती। इसी प्रकार भाव-संपत्ति-युक्त कविता में यदि सुंदर भावानुगामिनी भाषा न हो, तो वह भी मनोमोहक नहीं होती। इस प्रकार की कविता अधिक प्रशंसनीय भी नहीं होती।

सच्चा कवि भावावेश में लिखता है; अतएव सच्ची या उच्च कोटि की कविता में भाषा भी भावानुगामिनी होती है। भाव की चपलता या गंभीरता आदि पर भाषा की चपलता या गंभीरता भी निर्भर है। जिस कविता में भावानुरूपिणी भाषा न हो, वह श्रेष्ठ कविता नहीं कहला सकती। अँगरेजी-भाषा में महाकवि पोप ने अपने समालोचना पर निबंध (Essay on Criticism) में लिखा है—

"It is not enough, no harshness gives offence,

The sound must seem an echo to the sense."

"काव्य की भाषा में यही पर्याप्त नहीं है कि भाषा में कर्णकटुता न हो, पर यह भी आवश्यक है कि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाय।"

भाव के अनुरूप भाषा में एक निराला प्रवाह होता है, जिसे हम भाषा का स्वाभाविक प्रवाह कह सकते हैं। इसके सिवा भाषा का शुद्ध और समुचित रूप से नियंत्रित होना आवश्यक है। भाषा में सरलता या सुनते ही अर्थ व्यक्त करने का प्रधान गुण होने की व्यवस्था दी गई है। जिस प्रकार मनुष्य में सुंदरता, सत्यता एव उदारता आदि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य की भाषा में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद-गुण हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के इन गुणों को रस-उत्कर्ष का हेतु माना है, और इन्हें काव्य की भाषा के गुण न कहकर काव्य के ही गुण कहा है। काव्य में गुण की आवश्यकता बतलाते हुए भगवान् वेदव्यासजी ने अग्निपुराण में कहा है—

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्;
वपुष्यललितं स्त्रीणां हारो भारायते परम्।

"गुण-हीन काव्य अलंकार-युक्त होते हुए भी प्रिय नहीं होता नारी के सौंदर्य-रहित शरीर में हार केवल भार-स्वरूप होते हैं।"

मुख्य गुण तीन माने गए हैं। 'साहित्य-दर्पणकार' ने लिखा है—

गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।

"माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन प्रकार के गुण हैं।"

माधुर्य-गुण

माधुर्य का शब्दार्थ 'माधुर्य सौम्यत्वे' के अनुसार सौम्यता है। सौम्यता से मन द्रवीभूत होता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला

कि जिस रचना के सुनने से मन द्रवीभूत होता है, वह रचना माधुर्य-गुण-युक्त होती है।

माधुर्य के विषय में श्रीमम्मटाचार्यजी 'काव्य-प्रकाश' में कहते हैं—

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ;
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ;

"आह्लादकता माधुर्य है। यह द्रुति अर्थात् मन को द्रवीभूत करने का कारण है। यह शृंगार-रस में रहता है, और करुण, विप्रलंभ, शृंगार तथा शांति-रस में अतिशय रूप में होता है।" (माधुर्य गुण को वियोग-शृंगार में अतिशय-युक्त कहने से यह तात्पर्य है कि संभोग शृंगार में कभी कठोरता भी संभव है)।

साहित्य-दर्पणकार पं० विश्वनाथजी भी कहते हैं—

चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ;
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ।

"मन को द्रवीभूत करनेवाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। यह गुण संभोग-शृंगार, करुण-रस, विप्रलंभ-शृंगार एव शांति-रस में क्रम से अधिकाधिक रहता है।

यथार्थ में जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, का अभाव हो, मीलित वर्णों का बाहुल्य न हो, लंबे-लंबे समास न हों, और अनुस्वार-युक्त वर्णों का बाहुल्य हो एवं कोमल-कांत पदावली हो, वह माधुर्य-युक्त होती है। इसमें सानुनसिक वर्णों का आना शोभा-कर है। जैसे—

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ;
चुँवतिं सुरँग रँग-सी मनो चँपि बिछियन के भार।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे में न तो ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़ कटु वर्ण हैं, न लंबे समास हैं, और न दीर्घ वर्णों का बाहुल्य है। इसमें

अनुस्वार-युक्त वर्णों एवं सानुनासिक वर्णों का बाहुल्य है। मीलित या संयुक्त वर्णों का भी सर्वथा अभाव है। इसमें संगीत की-सी मधुर ध्वनि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से ध्वनित होती है।

ओज-गुण

'ओजो दीप्तौ' के अनुसार ओज का अर्थ दीप्ति है। दीप्ति-युक्त वस्तु से, जैसे सूर्य आदि से, मन तेज-युक्त होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि जिस गुण से मन तेज-युक्त हो, उसे काव्य में ओज-गुण कहते हैं।

श्रीमम्मटाचार्यजी कहते हैं—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ;
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।
(काव्यप्रकाश)

"ओज दीप्ति है। यह मन को तेज-युक्त करने में कारण है। इस गुण की वीर-रस में स्थिति है। बीभत्स और रौद्र रस में क्रम से इसका आधिक्य रहता है।"

'आत्मविस्तृति' का अर्थ यहाँ मन का विस्तार है। तेज-युक्त मन का विस्तार होता ही है।

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ;
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।

"चित्त की विस्ताररूपिणी दीप्ति को ओज कहते हैं। वीर, बीभत्स और रौद्र रस में इसका क्रमानुसार आधिक्य रहता है।"

यह वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, श, ष अथवा रेफ, संयुक्त या मीलित वर्णों और लंबे-लंबे समासों के बाहुल्य से युक्त रचना में होता है। इसमें वह घटना रहती है, जिसका वर्णन औद्धत्य-युक्त होना है। मेरे विचार से धकार का अधिक प्रयोग

ओज-गुण में भला लगता है। महाकवि भूषण त्रिपाठी की रचना में इसके उत्तम उदाहरण हैं। यहाँ इस गुण का उदाहरण देखिए—

डहडहे डंकन के सबद निसंक होत,
  बहबही सत्रुन की सेना जोर सरकी ;
'हरिकेस' सुभट-घटान की उमंडि उत,
  चंपत को नंद कोप्यो उमंग समर की।
हाथिन की मंड, मारू राग की उमंड त्यों-त्यों
  लाली झलकति मुख छत्रसाल बर की ;
फरकि-फरकि उठैं बाँहैं अस्त्र बाहिबे को,
  करकि-करकि उठैं करी बखतर की।
(हरिकेस कवि)

प्रसाद-गुण

'प्रसादो नैर्मल्ये' के अनुसार प्रसाद का पर्यायवाची शब्द निर्मलता है। काव्य के भाव में बुद्धि को शीघ्र प्रवेश कराने की निर्मलता प्रसाद-गुण में रहती है। क्लिष्टत्व-दोष की मलिनता से यह रहित है। यह प्रसाद-गुण काव्य में प्रशसनीय है। कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—"सरल कबित कीरति बिमल तेहि आदरहिं सुजान।"

आचार्य-प्रवर श्रीमम्मट कहते हैं—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छे जलवत्सहसैव यः ;
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
(काव्यप्रकाश)

"सूखे ईंधन में अग्नि के समान, स्वच्छ वस्त्रादि में जल के समान जो शीघ्र ही दूसरे में व्याप्त होता है, वह प्रसाद-गुण है। इसकी स्थिति काव्य में सर्वत्र है।"

साहित्य-दर्पणकार इसी का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ;
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

"जो समस्त रसों और रचनाओं में चित्त को, सूखे ईंधन में अग्नि के समान, शीघ्र व्याप्त करे, वह प्रसाद-गुण है ।".

मेरे विचार से जिस काव्य को बुद्धि शीघ्र ही ग्रहण कर ले, जो सुनते ही समझ में आ जाय, वह काव्य प्रसाद-गुण-युक्त है । यही उपर्युक्त मतों का तात्पर्य है । समर्थ महाकवियों की वाणी में यह गुण अवश्य रहता है । साहित्य-दर्पण में पं० विश्वनाथजी इस गुण के विषय में अपना यह मत देते हैं -

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्ये गुणे नैव परिग्रहः ;
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थे समर्पणम् ।

"प्रसाद नामवाले गुण में अर्थ व्यक्त करने का गुण होता है । इसमें पदों का तुरत ही अर्थ बोध कराना अर्थ-व्यक्ति है ।"

इसका उदाहरण यह है—

राम-नाम-अवलंब बिन परमारथ की आस ;
तुलसी बारिद-बूँद गहि चाहत चढ़न अकाश ।

इस प्रकार माधुर्य-गुण शृंगार, करुण और शांति नामक रसों में, ओज-गुण वीर, बीभत्स और रौद्र नामक रसों में एवं प्रसाद-गुण संपूर्ण काव्य में—नवो रसों में—अपेक्षित है । हास्य, भयानक और अद्भुत रस में किसी विशेष गुण का नियम नहीं । इनमें कभी माधुर्य और कभी ओज रहता है, जो वर्णित विषय के अनुकूल होता है ।

यहाँ रसों से गुणों का कथन करने से यह न समझना चाहिए कि रस-हीन निकृष्ट काव्य में गुण नहीं होते, वरन् समझना चाहिए कि शृंगार, करुण और हास्य-रस में ओज गुण नहीं आना चाहिए, और वीर, बीभत्स एवं रौद्र रस में माधुर्य नहीं आना चाहिए। यदि इसे न मानें, तो काव्य असुंदर और प्रभाव-हीन हो जायगा ।

पुत्रजन्म के उत्सव में रण-भेरी और मारू बाजे नहीं सुहाते। युद्ध के समय सितार की गति नहीं भाती। उपयुक्त वाद्य-विशेष उपयुक्त समय-विशेष में प्रभावोत्पादक होने से भले लगते हैं। माधुर्य और ओज की भी यही दशा है। शृंगारादि में माधुर्य और वीरादि में ओज ही सुहावना लगता है।

कई आचार्यों ने अनेक गुण माने हैं, पर उपर्युक्त तीन गुणों की प्रधानता सभी ने स्वीकार की है। संस्कृत में वामनाचार्य आदि और हिंदी में भिखारीदास आदि ने दस गुण माने हैं। वे ये हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद, (४) श्लेष, (५) समता, (६) सुकुमारता, (७) समाधि, (८) कांति, (९) उदारता और (१०) अर्थ-व्यक्ति। भाषा के प्रसिद्ध आचार्य श्रीपति १० शब्द-गुण और ८ अर्थ-गुण, इस प्रकार कुल १८ गुण मानते हैं। वे ये हैं—१० शब्द गुण—(१) उदारता, (२) प्रसाद, (३) उदात्त, (४) समता, (५) शांति, (६) समाधि, (७) उक्ति-प्रमोद, (८) माधुर्य, (९) सुकुमारता, और (१०) संक्षिप्त। ८ अर्थ-गुण—(१) भव्यकल्प, (२) पर्यायोक्ति, (३) सुधर्मिता, (४) शब्दता, (५) अर्थव्यक्त, (६) श्लेष, (७) प्रसन्नता और (८) ओज।

धाराधीश महाराज भोज ने सरस्वती-कंठाभरण में २४ गुण माने हैं, इनमें से दस तो वे ही हैं, जिन्हें वामनाचार्य आदि ने माना है, और शेष १४ के नाम (११) उदात्तता, (१२) और्जित्य, (१३) प्रेय, (१४) सुशब्दता, (१५) सूक्ष्मता, (१६) गांभीर्य, (१७) विस्तार व्यास, (१८) संक्षेप, (१९) सम्मित, (२०) भाविक, (२१) गति, (२२) रीति, (२३) उक्ति और (२४) प्रौढ़ोक्ति।

वैसे तो ये सभी गुण आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे शब्द और अर्थ का सौंदर्य बढ़ता ही है, पर मेरे विचार से इतने गुण मानना केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहन भेद करके विस्तार बढ़ाना है। फिर इनमें से अनेक गुण अर्थालंकारों व शब्दालंकारों में आ ही जाते हैं। यदि

काव्य में कवि भाव की उत्तमता के साथ-साथ भाषा में प्रसाद, माधुर्य और ओज, इन तीनों गुणों का ध्यान रक्खे, और अपनी रचना में इन तीनों गुणों का विचार-पूर्वक समावेश करे, तो उपर्युक्त अनेक गुण उसकी कविता में स्वयमेव आ जायँगे। श्लेष का वर्णन अलंकार के पृथक् विषय से संबंध रखता है। हिंदी-साहित्य के माननीय धुरंधर साहित्याचार्य श्रीभिखारीदासजी का मत भी यही है। वह लिखते हैं—

> माधुर्योज प्रसाद के सब गुण हैं अधीन ;
> तातें इनहीं कों गनें मम्मट सुकबि प्रबीन।
>
> (काव्य-निर्णय)

इन्होंने भाषा में इन गुणों के अतिरिक्त अनुप्रासादि शब्दालंकारों की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—

> रस के भूषित करन तें गुन वरनैं सुखदानि ,
> गुन भूषन अनुमान कै अनुप्रास उर आनि।

इसमें संदेह नहीं कि अनुप्रास को गुण चमका देते हैं। गुण रस के उत्कर्ष का हेतु बन जाता है। अनुप्रास गुण-विशेष को लगातार स्थिर रखकर रस को सुस्वादु और प्रभावशाली बना देता है। इससे अनुप्रास का होना आवश्यक है। पर, यह ध्यान रहे कि रस के अनुकूल अनुप्रास हो, एवं भाषा भावानुगामिनी तथा स्वाभाविक प्रवाह-युक्त बनी रहे। अनुप्रास लाने के लिये शब्दों की कपाल-क्रिया करना, व्याकरण-हीन एवं असमर्थ भाषा लिखना या भाषा की स्वाभाविकता नष्ट करना अर्थात् उसे स्वाभाविक प्रवाहमय न रहने देना कदापि प्रशंसनीय नहीं है। अनुप्रास वही प्रशंसनीय एवं वांछनीय है जो काव्य की भाव-राशि में बाधा न डाले।

इसके अतिरिक्त श्लेष भी भाषा-सौंदर्य का कारण है, पर उसके

कारण रचना में क्लिष्टत्व-दोष न आना चाहिए। श्लेष केवल ऐसे शब्दों का होना चाहिए, जिनके एक से अधिक अर्थ प्रचलित भाषा में हों, और जिन्हें लोग सहज ही समझ सकते हों। तात्पर्य यह कि श्लेष के शब्दों में अनेक अर्थ स्पष्ट भासित होना चाहिए, जिससे माथा-पच्ची करके अर्थ न निकालना पड़े; क्योंकि ऐसा श्लेष रस के प्रवाह में बाधक हो जाता है। भाषा भी सरस होनी चाहिए।

काव्य की भाषा में यमक की भी आवश्यकता है, क्योंकि यह भी भाषा की श्री-वृद्धि करता है। परंतु यमक ऐसे ही शब्दों में हों, जिनके अर्थ स्पष्टतया परिलक्षित हों। ये भी ऐसे न हों कि भाषा को जटिल बनाकर रस-प्रवाह में बाधक हों। यमक से काव्य में निराली छटा आ जाती है। जैसे—

> बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ;
> हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन।
>
> (बिहारी-सतसई)

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि काव्य की भाषा देश, काल और पात्र के सर्वथा अनुकूल हो। भाषा किसके मुख से निकल रही है, कहनेवाले ने किससे कही है, एवं किस परिस्थिति में, क्यों कही है, इस बात का विचार कविता की भाषा में—काव्य की भाषा में—अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इससे भाषा में सजीवता रहती है। यदि भाषा सजीव न हो, उसमें वक्ता के मनोविकार की ध्वनि न हो, उसमें वक्ता के हृदय के आह्लाद, क्रोध, शोक, चिंता एवं व्यग्रता आदि की प्रतिध्वनि न हो, तो फिर उस निर्जीव भाषा में माधुर्य, यमक, अनुप्रास आदि, मृतक नारी के अंग के आभूषणों के समान, निरर्थक हैं।

भाषा में शब्दों के उचित, उपयुक्त प्रयोग पर पूर्ण ध्यान देना परमावश्यक है, क्योंकि प्रत्येक शब्द के स्वरूप और अर्थ में कुछ

विशेषता होती है। शब्द का वजन तौलकर यथास्थान औचित्य-पूर्ण प्रयोग ही कवि की कुशलता का परिचायक है। यथार्थ में चुने हुए उत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम से यथास्थान प्रयोग करना ही काव्य की भाषा का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। अँगरेजी भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि लॉर्ड टेनिसन का मत है कि—

"All the charm of all the muses often flowing in a lovely word."

"बहुधा कविता के एक ही शब्द में संपूर्ण कलाओं का अशेष सौंदर्य उमड़ पड़ता है।"

तात्पर्य यह कि सामंजस्य-पूर्ण साहित्यिक भाषा भावानुगामिनी, अलंकृत, सरल और सुसघटित तथा मँजे हुए शब्दों से युक्त, प्रवाहमयी होनी चाहिए। अब देखिए, बिहारी-सतसई में भाषा का कैसा सौष्ठव है।

ब्रजभाषा बरनी सबै, कबिबर बुद्धि-बिसाल ;
सबकी भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने जिस भाषा में सतसई लिखी है, वह ब्रज-भाषा है। बिहारीलालजी के पूर्व ब्रज-भाषा में अनेक सुकवि हो गए थे। इनमें से श्री १०८ हितहरिवंशजी एवं सूरदास सर्वापेक्षा महान् हैं। इन कवीश्वरों ने ब्रज-भाषा में बहुत सुधार करके उसे साहित्यिक भाषा बनाने का भगीरथ परिश्रम किया था, यह इनकी रचनाओं से स्पष्ट विदित हो जाता है। यद्यपि साहित्य-सूर्य श्री सूरदासजी ब्रज-भाषा के परम प्रशंसनीय एवं माननीय कवि हैं, पर इनकी भाषा प्रसाद, माधुर्य आदि-सहित होते हुए भी बहुत उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा नहीं है। थोड़े में अधिक कहना—वह भी प्रयोगसाम्य, स्वाभाविक प्रवाहमयी, समुचित भावानुगामिनी भाषा में कहना—बड़ा ही दुस्तर है।

महाकवि बिहारीलालजी की भाषा में, काव्य की भाषा में जिनकी आवश्यकता है, वे सब गुण ओत-प्रोत हैं। शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से, वजन तौलकर, देश, काल, पात्र का ध्यान रखकर किया गया है। बिहारीलालजी की भाषा में मनोभावों का प्रतिबिंब निर्मल दर्पण की तरह झलकता है। बहुत थोड़े में गंभीर अर्थ ध्वनित करनेवाले सुंदर-सुंदर प्रचलित शब्दों की सुकर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाविरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं फिर बिहारीलालजी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर-सा बना डाला है।

व्याकरण-विशुद्ध, परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारीलालजी अद्वितीय हैं। पद-विन्यास-चातुर्य, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह सर्वश्रेष्ठ हैं। हिंदी-साहित्य-मर्मज्ञ सुकवि और सुलेखक स्वर्गीय बाबू राधा-कृष्णदासजी का मत है—

"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिंदी में ऐसी बोल-चाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाए जाते। उर्दू के कवि-कुल-भूषण नसीम और अनीस भी कदाचित् बोल-चाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे।"

(कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ १७)

मिश्रबंधु भी नवरत्न में लिखते हैं—

"कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलालजी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि ········दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार-भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २९१)

और भी लिखते हैं—"इस कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारतआराई भी खूब ही की है।"

(पृष्ठ २९०)

पं० पद्मसिंह शर्मा का मत है कि बिहारी-सतसई की भाषा सर्व-श्रेष्ठ, परम रसीली है। उसे छोड़कर जो दूसरी भाषा पढ़ते हैं, उनसे सहृदयता मचल-मचलकर कहती है—"जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर।" अस्तु।

बिहारीलालजी की भाषा में बोल-चाल की कैसी उत्कृष्टता है, इसे उनका प्रत्येक दोहा दिखला रहा है; फिर भी अपने पाठक, को यहाँ मैं दो-चार दोहे दिखलाता हूँ। देखिए—

किसी गोपिका ने प्रेम-कलह करके पास आए हुए गोपाल को लौटा दिया है। गोपाल के चले जाने पर वह खेदित होती है, पर उसका मान अभी छूटा नहीं है, और वह गोपाल की ढिठाई या कपटी व्यवहार आदि के बारे में सोचती हुई बैठी है। इसी समय कोई प्रवीण सखी उसे समझाने आई है। वह उस कलहांतरिता नायिका को श्रीकृष्ण का संदेश सुनानेवाली है। उसे देखते ही प्रियतम से मिलने के हेतु उत्सुक वह गोपिका अपने रूप-गर्व में मदमाती हो पूछती है—

अहे कहै न कहा कह्यो तोसों नंदकिशोर;

सखी कहती है—

बड़ बोली, बलि, होति कत, बड़े दृगनु के जोर।

इसमें बोल-चाल की स्वाभाविकता देखते ही बनती है; कैसी भावानुगामिनी भाषा है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ देखें। इसी प्रकार निम्न-लिखित दोहों में देखिए—

कौन सुने, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।

फिरि-फिरि बूझति, कहि, कहा कह्यो साँवरे गात ।
कहा करत देखे कहाँ, अली, चलो क्यों बात ?
लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे, घर जाँहि ;
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिँ ।
कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखिबी मुरारि ;
बीधे मोसों आयकै, गीधे गीधहिँ तारि ।
बाल कहाँ लाली भई लोयन कोयन माहिँ ;
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन बिच छाँह ।
तेह तरेरे त्यौर करि कत करियत दृग लोल ,
लीक न हो यह पीक की स्रुति-मनि झलक कपोल ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिए। भाषा को समास रूप से वर्णण करने में अर्थात् थोड़े में बहुत आशय भरने में बिहारीलालजी व्रज-भाषा में सर्वथा अद्वितीय ही हैं। यद्यपि सूरदासजी की रचना में यह गुण कहीं-कहीं पाया जाता है, पर बिहारीलालजी की रचना में तो सर्वत्र यही है। इसी से उनकी भाषा में अर्थ-गांभीर्य है, और इसी से प्राचीन मर्मज्ञों ने यह सम्मति दी है कि यदि शब्द कामधेनु कहे जा सकते हैं, तो वे बिहारी-सतसई के ही हैं। इसके भी दो उदाहरण देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंहँ करै, भौंहँनि हँसै, दैन कहै नटि जाय ।
ज्यों-ज्यों पट झटकति हँसति हठति नचावति नैन ;
त्यों-त्यों निपट उदार हूँ फगुआ देत बनै न ।
कर लै, चूमि, चढ़ाय सिर, उर लगाय, भुज भेंटि ;
लहि पाती पिय को लखति, बाँचति, धरति समेटि ।

मर्मज्ञ पाठक देखें कि इन दोहों में महाकवि बिहारीलालजी ने घंटों की बातचीत किस प्रकार भर दी है। इनका आशय घंटों मजे

में नाटक के रंग-मंच पर पात्रों के द्वारा दर्शित किया जा सकता है। कल्पना-मूर्तियों की ऐसी स्वाभाविक बातचीत कराने में ब्रज-भाषा का कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ। सचमुच गागर में सागर भर दिया है।

माधुर्य में तो बिहारीलालजी के दोहे मानो सने हुए हैं। ब्रज-भाषा का माधुर्य तो माना हुआ है ही। प० पद्मसिंह शर्मा ने ठीक ही कहा है—

"संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रज-भाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज है। वह सितोपला है, तो यह द्राक्षा है। बिहारी शृंगारी कवि, भाषा, ब्रज-भाषा, शृंगार-रस की कविता (शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य परंपरा! इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्त-वृत्ति कुसंस्कार-वश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिये जाना चाहती है, तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिल मति कूर;
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर।"

(सतसई-संजीवन-भा० भू०; पृष्ठ २४)

दो-चार दोहे माधुर्य-गुण-संपन्न भी देख लीजिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहि बिकास इहिं काल;
अली कली ही तैं बँध्यो आगैं कौन हवाल?
रससिंगार मंजनु किए कंजन भंजन दैन;
अंजन रंजन हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।
ह्वै कपूर-मनिमय रही मिलि तन दुति मुकुतालि;
छिन-छिन खरी बिचच्छिनौ लखति छ्वाय तृन आलि।
रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु-नीर;
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर।

पल सोहैं पगि पीक रँग, छल सोहैं सब बैन ;
बल सौंहैं कत कीजियत ये अलसौंहैं नैन ।
सही रँगीलैं रति जगैं जगीं पगीं सुख चैन ;
अलसौंहैं सौंहैं किएँ कहैं हँसौंहैं नैन ।

इसी प्रकार के माधुर्य से बिहारी-सतसई के दोहे लबालब भरे हैं । उनमें से मानो माधुर्य छलक रहा है ।

अनुप्रास भी बिहारीलालजी की रचना में ओत-प्रोत है । देखिए, एक वर्ण की दो शब्दों के आदि या अंत में दो बार आवृत्ति होने में छेकानुप्रास माना गया है । अनेक वर्णों की अनेक शब्दों में अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यानुप्रास है । एक ही शब्द का बात को जोरदार बनाने या सौंदर्य बढ़ाने के लिये दो बार या दो बार से अधिक प्रयोग वीप्सा अलंकार है । बार-बार एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में रखना यमक है । एक ही शब्द में अनेक अर्थ रखना श्लेष है । यह अभंग पद और सभंग पद होने से दो प्रकार का होता है । अच्छा, अब इस शब्द-सुषमा का दर्शन बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहों में कीजिए—

अधर धरत हरि के परत ओंठ दीठि पट ज्योति ;
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति ।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भाषा की श्रेष्ठता देखते ही बनती है । 'अधर' एवं 'धरत' दोनो ही नगण में होने से बड़े ही मनोहर हैं । कितने तौल-कर रक्खे गए हैं । फिर 'अधर' के अंत में 'धर' और 'धरत' के आदि में 'धर' होने से भाषा में निराला बाँकपन आ गया है । एक के अंत के दो अक्षरों को लेकर उन्हीं से दूसरा पद बनाना और उसे भी उसी गण में, बिना किसी प्रकार की विकृति के, रखना साथ ही भाषा के स्वाभाविक बोल-चाल को—उसके प्रवाह को—

अक्षुण्ण रखना बड़ा ही सुहावना है। 'धरत' और 'परत' भी नगण में हैं, एवं इन दोनो के अंत में भी 'रत' है, इससे भाषा में जिह्वा एक पद से दूसरे पद पर समान गति से जाती है। ह्रस्व स्वर के लगातार उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि की स्थिरता कर्णेंद्रिय को परम सुखदा है। 'हरि' और 'हरित' भी कम मनोहर नहीं हैं। दोनो में 'हरि' का प्रयोग बड़ा ही विलक्षण है। 'बाँस की बाँसुरी' में बाँस की बहार बहुत बढ़िया है। इस प्रकार संपूर्ण दोहा भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। 'जोति' और 'होति' का अंत्यानुप्रास हृदयहारी है ही। ओंठ और 'दीठ' में यद्यपि ठकार का प्रयोग कर्ण-कटु है, पर ओंठ का अनुस्वार और ठकार का अनुप्रास इस दोष की बहुत कुछ शांति कर देता है।

देखिए, 'रँग'-शब्द पर बिहारी कैसे उड़े हैं। यमक का प्रयोग दर्शनीय है। लिखते हैं—

कहैं देत रँग रात के रँग निचुरत-से नैन।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'रँग' के प्रयोग की छटा अद्भुत एवं दर्शनीय है। रँग का अर्थ क्रीड़ा या आनंद और वर्ण या रंग होता है।

❀ ❀ ❀

हिंदी-भाषा में ज्यों-ज्यों क्रिया-विशेषण के पश्चात् त्यों-त्यों का प्रयोग होना चाहिए, तभी वह उत्तम भाषा कहला सकती है, इसकी चेतावनी देते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

ज्यों-ज्यों जोबन-जेठ दिन कुचमित अति अधिकाति ,
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति।

(बिहारी-सतसई)

दोहे में 'ज्यों-ज्यों के पश्चात् 'त्यों-त्यों' का प्रयोग मनोरम शुद्ध ढंग से हुआ है। 'छीन-छिन' में वीप्सा की बहार है। 'ज्यों-ज्यों

जोबन-जेठ' में जकार का दो बार से अधिक प्रयोग होने से वृत्त्यानुप्रास स्पष्ट है। 'परत, मित, नित एवं अति' में अंत के अकार की अनोखी आभा है। 'अति' एवं 'अधिकाति' में 'अति' और 'अधि' में छेकानुप्रास की छटा है। अधिकाति एवं नित जाति के अंत्यानुप्रास (तुकांत) में भी उत्तमता है। इस प्रकार संपूर्ण दोहे में भाषा की श्रेष्ठता एवं उसका स्वाभाविक प्रवाह हृदयहारी है।

❀ ❀ ❀

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिन कर अनुराग—
सास सदन मन ललन हू सौतिन दियो सुहाग।
(बिहारी-सतसई)

'मानहु' और 'मुख', 'मुख' और 'दिख', 'दिखरावनी' और 'दुलहिन', 'सास' और 'सदन', 'सदन', 'मन' और 'ललन', 'दुलहिन' और 'सौतिन' एवं 'अनुराग' और सुहाग में भाषा की जो आनुप्रासिक छटा है, वह अद्वितीय है।

समरस समर-सकोच-बस बिबस न ठिक ठहराइ;
फिरि-फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि-दुरि उझकति जाइ।
(बिहारी-सतसई)

समरस और समर के आदि में 'समर' का प्रयोग, 'समरस', 'समर' और 'सकोच' में सकार की शोभा, 'बस' और बिबस' में 'बस' की बहार, ठिकु' और 'ठहराइ' का छेकानुप्रास, फिरि-फिरि' और 'दुरि-दुरि' का वीप्सालंकार एवं 'ठहराइ' और 'जाइ' का अंत्यानुप्रास भाषा की समृद्धि है। दोहे में शब्दालंकार की अच्छी छटा है। छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, यमक, वीप्सा और अंत्यानुप्रास आदि सभी विलक्षण हैं। इतने छोटे-से दोहे में इन सबका इतनी

सुंदरता से होना चकित कर देता है। इन उपर्युक्त गुणों के साथ-भाषा के स्वाभाविक प्रवाह की मनोरमता एव प्रसाद-गुण की अक्षुण्णता कवि के भाषाधिकार का प्रकृष्ट प्रमाण है।

❀ ❀ ❀

स्वाभाविक, प्रवाहमय, परिमार्जित, शुद्ध साहित्यक भाषा में सुंदर अनुप्रास और यमक की शोभा पात्र एवं काल के अनुकूल निम्न-लिखित दोहे में दर्शनीय है। बोल-चाल के ढ़ंग को जैसे निवाहा है, उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। लिखते हैं—

लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे ? घर जाँहिं ;
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं।

(बिहारी-सतसई)

वैसे तो संपूर्ण दोहे में भाषा-सौष्ठव दर्शनीय है, पर 'गोरस' का प्रयोग तो गजब ढा रहा है। 'गोरस' का अर्थ दूध-दही भी होता है, एवं इंद्रियों का रस भी होता है। कैसे अनोखे ढ़ंग से कहा है—

गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं।

❀ ❀ ❀

निम्न-लिखित अवतरणों में देखिए, बिहारीलालजी ने शब्दा-लकारों की कैसी सजावट की है—

(१) फूली आँगन में फिरै, आँग न आँगि समात।

(२) लखि मोहन जो मन रहै तो मन राखौं मान।

(३) ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट।

(बिहारी-सतसई)

इन अवतरणों में प्रथम फूली और न समात का संबंध जितना सुहावना है, उतना सूहावना शब्दालंकार चिह्नित स्थलों में भी है। द्वितीय में मन और मान एवं मोहन में अर्थ-चमत्कार का निर्वाह एवं अनुप्रासिक सुषमा दर्शनीय है। तृतीय अवतरण में

ललन, चलन, कल, न, पलन में मानो शब्द-समृद्धि की लूट है। इतने पर भी तोड़-मरोड़ या विकृति का न होना अत्यंत प्रशंसनीय है। बिहारी-सदृश समर्थ कवि ही भाषा का ऐसा निर्वाह कर सके हैं।

❀ ❀ ❀

निम्न-लिखित अवतरणों में शब्द कैसे तौलकर रक्खे गए हैं, एवं वृत्यानुप्रास की कैसी अनोखी छटा छहराई गई है, इसे सहृदय मर्मज्ञ पाठक देखें।

(१) नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन ;
रति पाली आली अनत, आए बनमाली न।

(बिहारी-सतसई)

❀ ❀ ❀

एवं—

(२) तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।

(बिहारी-सतसई)

नख-रेखा सोहैं नईं, अलसौंहैं सब गात ;
सोहैं होत न नैन ये, तुम कत सौंहैं खात।

(बिहारी-सतसई)

नवीन नख-रेखा (सोहैं) शोभा देती हैं, सब गात (अलसौंहैं) आलस-युक्त हैं। ये नैन (नेत्र) सम्मुख (सोहैं) नहीं होते, तुम (सौंहैं)शपथें (कसमें) क्यों खाते हो ?

इसमें 'सौंहैं' का प्रयोग कितना हृदयहारी एवं अनूठा है।

❀ ❀ ❀

सदन-सदन के फिरन की सद न छुटै यदुराय ;
रुचै तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आय।

(बिहारी-सतसई)

'सदन-सदन' के प्रयोग में वीप्सा की बहार एवं 'सदन-सदन फिर

सद न' में वृत्ति का वैभव है। 'रुचे तिते बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आय' की शब्द-सुषमा हृदयहारिणी है। 'बिहरत' का श्लेष भी बड़ा मनोहर है। बिहरत का अर्थ 'फिरना एवं 'क्रीड़ा करना' होता है। तुकांत की श्रेष्ठता है ही। इस प्रकार संपूर्ण दोहे की भाषा प्रशंसनीय है।

❀ ❀ ❀

जाति मरी बिछुरती घरी जल सफरी की रीति ;
छिन-छिन होति खरी खरी अरी जरी यह प्रीति।

(बिहारी-सतसई)

इतने छोटे-से दोहा छंद में 'मरी, घरी, सफरी, खरी खरी, जरी, रीति, प्रीति एवं छिन-छिन' में पद क्या हैं, देदीप्यमान अनमोल रत्न हैं। फिर क्या मजाल कि इतनी उत्कृष्ट शब्द-सुषमा के लिये बिहारीलालजी ने एक भी शब्द तोड़ा-मरोड़ा हो। वृत्त्यानुप्रास एवं वीप्सा की छटा दोहे में अवर्णनीय है।

❀ ❀ ❀

गुड़ी उड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँहँ ;
बौरी लौं दौरी फिरै, छुवति छबीली छाँह।

देखिए तो, गुड़ी और उड़ी, लखि और लाल, अँगना और अँगना, बौरी और दौरी, फिरति और छुवति, छबीली और छाँहँ तथा माँहँ और छाँह में शब्द-समृद्धि कैसी अनोखी प्रभा दर्शित कर रही है। ऐसे उदाहरणों से कवि के भाषा पर एकाधिपत्य रखने की सूचना मिलती है।

❀ ❀ ❀

लाल तिहारे बिरह की अगिनि अनूप अपार ;
सरसै बरसैं नीर हू, झरहू मिटै न झार।

(बिहारी-सतसई)

दोहे में 'अगिनि अनूप अपार' में अकार का अनूठापन अद्वितीय अवश्य था, पर 'सरसै बरसै नीर हू झरहू मिटै न झार' में जो शब्द-सुषमा एवं भाषा-प्रौढ़ता है, वह अवर्णनीय है। किसी भी दृष्टि से दोहे की भाषा सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक भाषा सिद्ध होती है।

❀ ❀ ❀

पिय के ध्यान गही-गही, रही वही ह्वै नारि ;
आप-आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।

(बिहारी-सतसई)

इसमें इतने तौलकर पद रक्खे गए हैं, जिनकी प्रशंसा शब्दों में नहीं हो सकती। दोहे में शब्दालंकारों का अनूठापन, सुंदर प्रबंध-योजना, अर्थ-गांभीर्य, अर्थ-व्यक्ति, प्रसाद-गुण एवं भाषा का स्वाभाविक प्रवाह एवं प्रयोग-साम्य सभी कुछ है। 'गही गही रही वही' में भाषा का निराला चमत्कार है। 'आप-आप ही आरसी में भी शब्द-सुषमा है। 'रिझति रिझवारि' में तो मानो शब्द-समृद्धि लूट ली है। जब नायिका 'रिझवारि' है, तभी वह 'रीझति' है।

* * *

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बान ;
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जान।

(बिहारी-सतसई)

कैसी मधुर, अलंकृत एवं समुचित नियंत्रित उत्कृष्ट भाषा है। फिर बोल-चाल की स्वाभाविकता तो सोने में सुगंध है। कौन कह सकता है कि खरी व तरी, कान व बान एवं कली, रली, अली और अली का प्रयोग ऐसे अनूठे ढग से चौबीस मात्राओं के दोहा छंद में ऐसी कुशलता से भावानुगामिनी भाषा में कर जाना बिहारीलालजी के भाषा पर एकाधिपत्य का परिचायक नहीं है ?

* * *

मार सुमार करी खरी, अरी मरीहिं न मार ;
सींच गुलाब घरी-घरी, अरी बरीहिं न बार ।

(बिहारी-सतसई)

मार एवं सुमार, करी एवं खरी और 'अरी मरीहिं न मार', घरी-घरी एवं 'अरी बरीहिं न बार' सभी पद विलक्षण हैं। दोहे में उत्कृष्ट प्रौढ़ अलंकृत साहित्यिक भाषा का भावानुकूल देश-काल-पात्रानुसार स्वाभाविक प्रवाह होना बरबस हृदय को खींचता है।

❀ ❀ ❀

अब लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा का अद्भुत संघट्टन देखिए। निम्न-लिखित दोहे में शब्दालंकारों की संसृष्टि दर्शनीय है। फिर भी यह नहीं है कि प्रसाद-गुण न हो। भाषा का प्रवाहमय समुचित नियंत्रण और मनोमुग्धकारी माधुर्य-गुण न हो।

फिर सुध दै सुध पाइए इहि निरदई निरास ;
नई-नई बहुरौ दई, दई उसास उसास ।

(बिहारी-सतसई)

❀ ❀ ❀

प्रायः संपूर्ण साहित्याचार्यों ने यमक की श्रेष्ठता अंगीकार की है। बिहारीलालजी ने यमक का प्रयोग भावानुगामिनी, स्वाभाविक प्रवाहमयी भाषा में कैसे अनूठे ढंग से किया है, यह दर्शनीय है।

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ;
हरिनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैंन ।

(बिहारी-सतसई)

कितनी मनोरमता से यमक की छटा छहराई है। संपूर्ण दोहा भाषा-सौष्ठव का—यमक के प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है।

❀ ❀ ❀

केलि-तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन सुखदैन ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें भी यमक की अद्भुत छटा है। केले के पेड़ को दुख और केलि (रति-केलि) में तरुन के सुख देनेवाली जंघाओं के वर्णन में केलि (केला व रति-क्रीड़ा) तरुन (वृक्ष व तरुण मनुष्यों) का जो प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा दुर्लभ है। ऐसी भाषा प्रसाद-गुण को अक्षुण्ण रखते हुए—भाषा को विशुद्ध रखते हुए लिखना बिहारीलालजी का ही काम है।

❀ ❀ ❀

गनी गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यौं कहूँ तरु अर्क तैं अर्क - समान उदोत ।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वैसे तो भाषा-संबंधी अनेक गुण हैं, पर 'अर्क' (अकौआ, सूर्य) का यमक बड़ा ही हृदयहारी है।

❀ ❀ ❀

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ ;
वह खाएँ बौरात है, यह पाएँ बौराइ ।

(बिहारी-ससतई)

इसमें यमक की शोभा दर्शनीय है। कनक का अर्थ धतूरा और स्वर्ण दोनो हैं। फिर यमक में भी जो अर्थ-गांभीर्य रक्खा है, उसमें भी जो शब्द-सुषमा रक्खी है, वह प्रशंसनीय है।

❀ ❀ ❀

किस शब्द का किस स्थान में कैसा प्रयोग करना चाहिए, इसे हम बिहारीलालजी की टकसाली भाषा में बड़ी सुंदरता से देखते हैं। लिखते हैं—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन ;
मानहुँ सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें चंचल नयन चमचमात, घूँघट-पट झीन, बिमल जल जुग मीन उछलत में चिह्नित शब्दों के प्रयोगों पर ध्यान दीजिए।

लहलहात तन तरुनई, लच लग लौं लफ जाइ ;
लगै लंक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें तन तरुनई लहलहात, लच लग लौं लफ जाइ, में प्रयोग-साम्य है, साथ ही लहलहात, लच, लग, लौं, लफ, लगै, लंक, लोयन, लोयन, लेत, एवं लगाइ में लकार से प्रारंभ होने वाले पदों का बाहुल्य है; पर फिर भी भाषा में न तो किसी प्रकार की बनावट या तोड़-मरोड़ है, एवं न उससे भाव-राशि में किंचित बाधा पड़ती है।

निम्न-लिखित दोहे में भावमयी, आह्लादकारिणी, मधुरिमामय, उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दों के औचित्यपूर्ण विशुद्ध प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

पलन प्रगटि, बरुनीन बढ़ि, छिन कपोल ठहरायँ ;
अँसुआ परि छतियाँ छिनकु, छनछनाय छिपि जायँ ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें कैसी अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण रसीली ब्रजभाषा है। इसका एक-एक पद अनूठा है। यथार्थ में दोहे की लड़ी में अनर्घ्य मणियाँ पिरोई गई हैं। संपूर्ण दोहे में शब्दालंकार की छबीली छटा छहरा रही है। बिहारीलालजी के यश की ध्वजा भी ऐसी अनूठी भाषा

लिखने के कारण ही फहरा रही है, एवं लोगों को यह कहने पर विवश कर रही है कि महाकवि बिहारी के समान उच्च कोटि की, भावानुगामिनी, परिमार्जित, प्रयोग-साम्य, साहित्यिक भाषा विश्व के बहुत ही थोड़े कवि लिख सके होंगे।

❋ ❋ ❋

बिहारीलालजी की भाषा में श्लेष-वर्णन का चमत्कार अनेक दोहों में पाया जाता है। यहाँ दो दोहे देखिए—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर;
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'वृषभ+अनुजा' से बैल की बहन और 'हलधर के बीर' के—हल को धारण करनेवाले बैल के बंधु एवं वृषभानुजा से वृष के अत्यंत तेजवान् मार्तंड (सूर्य) से उत्पन्न एवं हलधर से (हल= पृथ्वी, धर=धारण करनेवाले) पृथ्वी को धारण करनेवाले शेष-नाग के अवतार बलराम के भाई एवं हलधर के बीर से बलराम के भाई कृष्ण एवं वृषभानुजा से वृषभानुराय की पुत्री राधिका का बोध होता है। दोहे में भंग पद श्लेष का अनोखा चमत्कार है।

❋ ❋ ❋

अजौं तरयोना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग;
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग।

(बिहारी-सतसई)

पहले इसके शब्दार्थ देख लीजिए—

'तरयोना'=(१) कर्णफूल, कान में पहनने का आभूषण, (२) तरा नहीं, मोक्ष नहीं पाया।

श्रुति=(१) कान, कर्ण, (२) वेद।

नाक =(१) नासा, नासिका, (२) बैकुंठ, स्वर्ग ।
बेसर =(१) नथ, नाक का आभूषण, (२) अद्वितीय, अनुपमेय
मुकुतन= (१) मोतियों, (२) जीवन्मुक्त महात्माओं ।
श्लेष का ऐसा विशुद्ध उदाहरण कठिनता से मिलेगा।

बिहारीलालजी ने उपर्युक्त प्रकार के श्लेषात्मक दोहे क्लिष्टत्व-दोष आ जाने के कारण थोड़े ही लिखे हैं । यथार्थ में उन्होंने ऐसे श्लेष कहे हैं, जिनसे साहित्य-संसार की शोभा है। इस ग्रंथ में उनके वैसे अनेक दोहे पाठकों को मिलेंगे। यहाँ उदाहरण के लिये एक दोहा देता हूँ, देखिये—

जोग-जुगति सिखई सबै मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का अर्थ मैं समता के अध्याय में लिख चुका हूँ, एवं वहाँ इसकी कुछ विवेचना भी कर चुका हूँ। इस दोहे में 'कानन' का श्लेष ही सब कुछ है। 'कानन' से कर्णों (कानों) एवं 'कानन' से जंगल अर्थ होता है। इस कानन से ही अद्वैतता के अर्थ का एव योग-युक्ति का सामंजस्य ठहरता है। ऐसे श्लेप ही यथार्थ में प्रशसनीय हैं, और बिहारीलालजी की सतसई में ऐसे ही श्लेष भरे हैं।

* * *

इस कवि ने भाषा में प्रचलित मुहाविरों का जैसी उत्तमता से प्रयोग किया है, वह सर्वथा सर्वोतोभावेन सराहनीय है। इस ग्रंथ में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। यहाँ दो उदाहरण देखिये—

(१) सीतलताऽरु सुबास कौ घटै न महिमा-मूरु ;
पीनसवारो जो तज्यौ सोरा जानि कपूर।

(बिहारी-सतसई)

(२) आँखिन आँखि लगी रहैं; आँखैं लागति नाहिं।

(३) जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन।

(४) डौंड़ी दै गुन रावरे कहति कनौड़ी डीठि।

(५) वे ही कर ब्यौरनि वही ब्यौरो कौन बिचार;
जिनहीं उरभ्यो मो हियो, तिनहीं सुरझे बार।

बिहारीलालजी के नीति के दोहे अब कहावतों के रूप में प्रचलित हो चुके हैं।

वर्णन में सजीवता लानेवाली, भावानुगामिनी भाषा में बिहारी-लाल जी ने जिस प्रयोग-साम्य का निर्वाह किया है, एवं जो अनूठी रचना की है, वह सदैव हिंदी के माथे की बिंदी रही है, और रहेगी। अब मैं एक दोहा देकर बिहारीलालजी के भाषा-वर्णन को दिखलाना समाप्त करता हूँ। कहते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट;
निपट बिकट जब लगि जुटे खुलहिं न कपट-कपाट।
(बिहारी-सतसई)

मन की कोमलता दिखलाने के लिये 'मन-सदन' का प्रयोग कितना अनूठा है, इसे विज्ञ जन ही समझ सकते हैं; परंतु मन की यह कोमलता तब होती है, जब मन निष्कपट हो जाता है। निष्कपट, कोमल 'मन-सदन' में ही हरि का आगमन होता है। जब तक मन निष्कपट नहीं हुआ, तब तक उसमें कठोरता है, इसी कठोरता की सीमा दर्शित करने के लिये ही भाषा पर एकाधिपत्य रखनेवाले महाकवि बिहारीलालजी ने 'निपट बिकट कपट-कपाट जुटे' लिखा है। इस परुषवृत्त्यानुप्रास में कपट के कपाटों की निपट बिकटता केवल टकार के अनेक बार के प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है। इन वर्णों की ध्वनि सुनकर ही श्रोता को कपट की भीषणता का अनुभव हो

जाता है। तुरंत ही ध्यान में आ जाता है कि कपटी का 'मन बड़ा ही कठोर है। उस कठोरता को बिना हटाए, मन को पर-दुःख-कातरता एव दया आदि गुणों से कोमल बनाए बिना, उस 'मन-सदन' में हरि का आगमन नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी ने अत्यंत उच्च कोटि की साहित्यिक ब्रज-भाषा लिखी है। वह प्रायः व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अत्यंत मधुरिमामयी और भावानुगामिनी है। उसमें काव्य की भाषा के सर्वोत्कृष्ट गुणों का अच्छा दिग्दर्शन है। यथार्थ तो यह है कि जिस प्रकार महात्मा श्री तुलसीदासजी गोस्वामी ने अवधी-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यंत उच्च कोटि की लिखी है, उसी प्रकार श्री बिहारीलालजी ने ब्रज-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यंत उच्च कोटि की लिखी है। इसी से मर्मज्ञों ने—भाषा के जौहरियों ने—यह निर्णय दे दिया है—

> ब्रज-भाषा बरनी सबै कबिबर बुद्धि-बिसाल;
> सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

श्री मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में बिहारीलालजी की अद्वितीय भाषा पर भी कटाक्ष किया है। आप लोगों ने जहाँ बिहारी सतसई की अद्वितीय, पीयूषवर्षिणी, भावानुकूल, मुहाविरेदार, सजीव भाषा की बेहद प्रशंसा की है, वहाँ उसमें से कुछ ऐसे शब्द बड़े परिश्रम से ढूँढ़ निकाले हैं, जिन्हें आप लोगों ने अप्रयुक्त, भ्रष्ट एवं विकृत करार दिया है। परंतु मुझे तो वे सब साहित्यिक ब्रज-भाषा में प्रयुक्त मँजे हुए प्रयोगों के उत्कृष्ट उदाहरण जान पड़े हैं, और उनके दोष बतलाने में श्री मिश्रबंधुओं की ही भ्रमात्मक भूल जान पड़ती है, जो अच्छे एवं प्रामाणिक समालोचक की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध

जान पड़ती है। उन शब्दों के प्रयोग कितने सही और सुंदर हुए हैं, यह मैं यहाँ श्री मिश्रबंधुओं के आक्षेपों-सहित सप्रमाण दिखलाता हूँ—

(१) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

हाँ से ह्याँ, ह्याँ से वहाँ, नेकौ धरति न धीर;
निसि-दिन डाढ़ी-सी रहै, बाढ़ी गाढ़ी पीर।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'डाढ़ी' पद के प्रयोग पर श्री मिश्रबंधु बहुत ही बिगड़े हैं, और सतसई के सूरति मिश्र और सरदार आदि प्राचीन तथा पं० पद्मसिंह एवं 'रत्नाकर' आदि आधुनिक साहित्य-विशारद टीकाकारों ने 'डाढ़ी' का जो 'जली हुई' अर्थ किया है, उसे लक्ष्य कर हिंदी-नवरत्न में लिखते हैं—

"प्रसिद्ध अँगरेजी-समालोचकों का मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते हैं। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं।..... डाढ़ी शब्द डाढ़ा (दौरहा-आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। 'डाढ़ी' को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढ़ा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ होने से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८५)

इन महाशयों की इस आक्षेप-प्रणाली पर कुछ न कहकर मैं यहाँ हिंदी के स्तंभ-महारथियों की रचनाओं में इसी शब्द के प्रयोग दिखलाता हूँ। देखिए—

(अ) व्रज-भाषा के सर्वस्व, हिंदी-साहित्य-सूर्य श्री सूरदासजी लिखते हैं—

धेनु दुहति अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहिनि पहुँचावति, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।
* * *
सखी संग की निरखति इहि छबि भई व्याकुल मनमथ की डाढ़ी ।
[सूर-सागर (वेंकटेश्वर-प्रेस) दशमस्कंध, पृष्ठ १६३]
परम बियोगिनि सब मिलि ठाढ़ी ;
ज्यों जल-हीन दीन कुमुदिनि-गति, रबि-प्रकास की डाढ़ी ।
* * *
सूरदास प्रभु अवधि कहौं तौ प्रान तजति ब्रज-नारी ।
[सूर-सागर (नवलकिशोर-प्रेस), मथुरालीला, पृष्ठ ७६०]

इन दोनो उद्धरणों में श्री सूरदास ने 'डाढ़ी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में स्पष्टतया किया है ।

(ब) हिंदी के सर्वस्व कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

निकसि बसिष्ठ द्वार भे ठाढ़े ;
देखे लोग बिरह-दव डाढ़े ।
(राम-चरित-मानस, अ० कां०)

यहाँ पुंलिंग बहुवचन में स्त्रीलिंग 'डाढ़ी' का रूप 'डाढ़े' हो गया है ।

लखन तेज तनु हत भयो, जिमि डाढ़ी दव बेलि ।
(राम-चरित-मानस, लं० कां०)

इन उद्धरणों में तुलसीदासजी ने 'डाढ़े' एवं 'डाढ़ी' का प्रयोग 'जले हुए' एवं 'जली हुई' के अर्थ में किया है ।

(स) हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ आचार्य महाकवि केशवदासजी लिखते हैं—

चातक ज्यों पिय-पीय रटै, चढ़ि ताप तरंगिनि ज्यौं गति गाढ़ी।
'केशव' वाकी दसा सुनिहौ, अब आगि बिना अँग-अँगनि डाढ़ी।

[कविप्रिया]

नीर-हीन मीन मुरझाइ जीवै नीर ही तें,
छीर के छिरीके कहा धीरज धरातु है;
पाई है तैं पीर, कैधों यों ही उपचार करै,
आगि को तो डाढ़ो अंग आगि ही सिरातु है।
[रसिकप्रिया पृष्ठ १८, छं० सं० १५]

नाहिं सिखावतिं नाहिं भली,
सखि पावक लै तिनको मुँह डाढ़ौ।

[रसिकप्रिया, पृष्ठ २२४]

इन तीनो उद्धरणों में डाढ़ी, डाढ़ो एवं डाढ़ौ का प्रयोग जली हुई, जला हुआ एवं जलाओ के अर्थ में है।

(ड) हिंदी-साहित्य में वीर-रस के सर्व-श्रेष्ठ महाकवि और आचार्य भूषण त्रिपाठी लिखते हैं—

डाढ़ी के रखैयनि की डाढ़ी-सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जैसी हद हिंदुवाने की;
'भूषन' भनत दिल्लीपति दिल धकधका,
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
[शिवाबावनी, छं० सं० ४७]

इसमें 'डाढ़ी-सी रहति' का अर्थ 'जली हुई-सी रहती है' स्पष्ट है।

(ढ) हिंदी के सुप्रसिद्ध शृंगारी महाकवि एवं भाषा के आचार्य मतिरामजी लिखते हैं—

न्योते गए कहुँ नेह बढ़्यो, मतिराम दुहूँ के लगे दृग गाढ़े;
लाल निकेत से चाले घरै, तिय-अंग अनंग की आग सों डाढ़े।

ऊँचे अटा पर काँधे सहेली के ठोड़ी दिए चितवै दुख बाढ़े
मोहन जो मन गाढो करैं पग द्वैक चलैं फिर होत हैं ठाढ़े।
[रसराज, पृष्ठ ४६, छं० सं० ८१]

इस उद्धरण में 'आग सों डाढ़े' में मतिरामजी ने 'डाढ़ी' का प्रयोग पुंलिंग बहुवचन में 'डाढ़े' के रूप में किया है।

(क) शृंगारी कवि देव ने भी इसका प्रयोग किया है—

मोहनलाल लखे कहुँ बाल, बियोग की ज्वालन सों तन डाढ़ती।
और की और कहै सुनै 'देव' महाँ दुचिताई सखीन के बाढ़ती।
[रसविलास, पृष्ठ १०४]

(ख) प्रसिद्ध कवि और आचार्य गोकुलनाथजी लिखते हैं—

आजु कहूँ खिरकी सों लखी
हरि की मुख-ज्योति गलीन में बाढ़ी;
गोकुलनाथ बिलोकि लई छबि,
ता दिन तें बिरहागिनि डाढ़ी।

इस उद्धरण में 'बिरहागिनि डाढ़ी' में 'डाढ़ी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्य अनेक कवियों ने 'डाढ़ी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में किया है। जिस 'डाढ़ी'-शब्द का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में हिंदी-भाषा के सर्वस्व सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव एवं गोकुलनाथ आदि अनेक कविवरों ने किया हो, वही जिन्हें अनुचित और मनगढ़ंत समझ पड़ता हो, उनसे क्या कहा जाय? यदि श्री मिश्रबंधु अपने हिंदी-नवरत्न में हिंदी के सर्वस्व माने हुए सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, मतिराम और देव—इन सात महारथियों की बात को अनुचित' कह डालें, तो वे स्वयं ही ऐसे कहाँ के उचित कहनेवाले हो गए हैं?

(२) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

हठ-हित-कर प्रीतम लियौ, कियौ सो सौत सिंगार ;
अपुनैं कर मोतिन गुह्यौ, भयौ हरा-हर-हार ।

[बिहारी-सतसई]

'भयौ हरा-हर-हार' का अर्थ 'हार हलाहल के समान हो गया' लगाकर श्री मिश्रबंधुओं ने इस पर यह आक्षेप किया है कि इसमें 'हलाहल' स्थान में 'हरा-हर' लिखा गया है, अतएव भाषा की भ्रष्टता है। परंतु साहित्य मर्मज्ञ कहलानेवाले इन समालोचकों ने यह न सोचा कि बिहारीलालजी-सदृश महाकवि हलाहल को हार उपमान कैसे वर्णन करेंगे? आर्य-साहित्य में संस्कृत और हिंदी के महाकवियों की प्रणाली हार को सर्प के समान वर्णन करने की परंपरा से है। हार से और सर्प से अधिक साम्य होने से आर्य महाकवियों ने हार को बिरह में सर्प के समान वर्णन किया है। मैं यहाँ हिंदी-भाषा, विशेषकर ब्रज-भाषा के सम्मानीय कवीश्वरों की रचनाओं में के उद्धरण ही इसके प्रमाण में देना ठीक समझता हूँ। देखिए—

(अ) श्रीराधावल्लभ-संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु आचार्य श्री हित-हरिबंशजी महाराज, जिनकी कविता को श्रीयुत मिश्रबंधु सूरदास की जोड़ की समझते, यदि वह परिमाण (quantity) में सौर कविता के बराबर होती, लिखते हैं—

चलसि किन मानिनि कुंज-कुटीर ।
तो बिनु कुँवर कोटि बनिता-युत मथत मदन की पीर ।
... ...
वंशी बिसिख, ब्याल मालावलि, पंचानन पिक-कीर ।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखा-मृग रिपु चीर ;
'हितहरिबंस' परम कोमल चित सपदि चली पिय तीर ।

[श्रीहित-चतुरासी]

इस उद्धरण में 'व्याल मालावलि' में माला को सर्प के समान वर्णन किया है।

(ब) महाकवि आचार्य केशवदासजी लिखते हैं—

फूल ना दिखाव सूल फूलत है हरि बिन,
दूर कर बाला माला व्याल-सी लगति है;
चँवर चलाव जनि, बीजन डुलाव जनि,
'केसव' सुगंध-बायु बाय-सी लगति है।
(रसिकप्रिया, पृष्ठ १४६)

इस उद्धरण में भी 'माला व्याल-सी लगति है' में माला की समता सर्प से की गई है।

(स) सुप्रसिद्ध हिंदी-कवि पद्माकरजी लिखते हैं—

कै गिनती-सी इती बिनती, दिन तीनक लौं बहु बार सुनाई;
त्यों 'पदमाकर' मोह-मया करि तोहिं दया न दुखीन की आई।
मेरो हरा हर-हार भयो अब, ताहि उतार उन्हें न दिखाई;
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल, गुपाल की वा पहिरी पहिराई।
(जगद्विनोद)

इसमें भी हरा की हर-हार (शंकर के गले का हार=सर्प) से समता की गई है। यहाँ बिहारीलालजी की ही सुगठित, मनोहर शब्दावली है।*

तात्पर्य यह कि श्री मिश्रबंधुओं ने अज्ञानता-वश यह भूल की है। उन्होंने जिस देव कवि को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ महाकवि कह डाला है, उसने भी 'हार' का उपमान विरह में 'सर्प' ही माना है। देव ने लिखा है—

'देव' तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिनि,
सो देखत बिरह-बिष-व्याल की लहरि परी।

इसमें देव ने विरहावस्था की माला को विषैला सर्प बनाया है। और भी लिखा है—

देखे दुख देत चैत-चंद्रिका अचेत करि,
चैन न परति चद चंदन को टारि दै ;
फूँकै ज्यों फनी री, फूल-माल को न नीरी करि,
एवी री बरी ये जाति या बीरी बगारि दै ।
(प्रेमचंद्रिका पृष्ठ २३, छं० ४०)

यहाँ भी माला ब्याल (फनी) है। श्री मिश्रबंधुओं ने 'हार' को 'हरा' लिखने पर जो आक्षेप किया है, वह निर्मूल है; क्योंकि 'हार' को 'हरा' लिखने की ब्रज-भाषा के कवियों की परिपाटी रही है, और गद्य में आज तक 'हार' के स्थान में 'हरा' का प्रयोग लोग प्रचुरता से करते हैं। जैसे—'दो पैसे के बेला के हरा ले आओ।'

(३) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

दियौ जु पिय लखि चखनु में खेलत फागु खयाल ;
बाढ़त है अति पीर सु न काढ़त बनत गुलाल।
(बिहारी-सतसई)

इसमें जो 'खयाल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किया गया है, उसे मिश्रबंधु अप्रयुक्त और विकृत मानकर आक्षेप करते हैं। पर यह आक्षेप इन सज्जनों की अध्ययन-हीनता का ही फल है।

(अ) ब्रज-भाषा के सर्वस्व महाकवि श्री सूरदासजी लिखते हैं—

चकृत देखि कहैं नर-नारि ;
धरनि-अकास-बराबर ज्वाला झुरसी लपटि करारि।
नहिं बरस्यो नहिं छिरक्यो काहू कहँ धौं गई बिलाय ;
अति आघात करति बन भीतर कैसे गई बुझाय।
तृण की आगि बरति नहिं बुझ गई हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहु 'सूर' वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल ॥

इस उद्धरण में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में स्पष्ट है।

(ब) हिंदी के सर्वस्व गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

बालक नृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोरथो।
(कवितावली-रामायण)

इसमें 'ख्याल ही' का प्रयोग 'खेल ही' के अर्थ में स्पष्ट है।

(स) कविवर ठाकुर ने लिखा है—

मचि रहि फाग और सब सब ही पै घालैं।
रंग औ' गुलाल लाल ख्याल अवलोकौं मैं;
मो पै तुही 'ठाकुर' लगाए घात घूमें घेरि;
देखौं अब जात कित इत-उत रोकौं मैं।

इसमें 'ख्याल' खेल के अर्थ में स्पष्ट है।

(क) कविवर पद्माकर लिखते हैं—

मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सु दृग-मिचावनी के ख्यालन हितै-हितै;
नैसुक नवाय ग्रीवा धन्य-धन्य दूसरी को
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै।

यहाँ भी 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में हुआ है।

(ख) कविवर ग्वाल ने ख्याल का प्रयोग खेल के अर्थ में अनेक बार सुंदरता से किया है—

बोलीं तब बाल भले आओ नँदलाल अब
देखैं ख्याल तेरो भजि आयो फँसि-फँसिकैं;
'ग्वाल' कबि स्यामै गहि कोउक नचावैं,
कोऊ चेरौ कै छुड़ावैं फेरि आवैं धसि-धसिकैं;

एवं—

'ग्वाल' कबि नैन में कि बैन में कि सैन में
कि रंग लैन-दैन में कि आँगुरी अँगूठी में;

मूठी में, गुलाल में कि ख्याल में तिहारे प्यारी,
कामें भरी मोहिनी, जो भयो लाल मूठी में ।

इन दोनों अवतरणों में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में हुआ है ।

(ग) राजा शंभुनाथ सोलंकी ने भी लिखा है—

'शंभु' सनेह समाए रहैं, रस-ख्यालन में सिगरी निसि जागैं ;
दोऊ दुहूँन सों मान करैं, पुनि दोऊ दुहूँन मनावन लागैं ।

इस उद्धरण में 'ख्यालन' का प्रयोग 'खेलों' के अर्थ में स्पष्ट हुआ है ।

(घ) देव कवि ने भी श्रीदेव-माया-प्रपंच नाटक में लिखा है—

हाय दई इहि काल के ख्याल में
फूल - से फूलि सबै कुम्हलाने ।

इसमें देव ने 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में ही किया है ।

इसके सिवा अन्य अनेक कविवरों ने 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किया है । इस प्रकार जिसका प्रयोग सूर, तुलसी, बिहारी, ठाकुर, पद्माकर, ग्वाल, शंभु और देव आदि कवियों ने प्रचुरता से किया हो, वह जिन्हें अप्रयुक्त जान पड़े, उनकी अध्ययनशीलता की बलिहारी है !

(४) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

नित संसौ, हंसौ बचत मानहुँ इहिं अनुमान ;
बिरह-अगिनि-लपटि न सकै, झपटि न मीच-सिचान ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'संसौ' शब्द पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—

"संसौ—साँस के अर्थ में असाधारण, अव्यवहृत और बिगड़ा हुआ स्वरूप है ।"

(हिंदी-नवरत्न, पृष्ठ २८१)

जान ही नहीं पड़ता कि श्रीमिश्रबंधुओं ने 'ससौ' का अर्थ 'साँस' कहाँ से ले लिया। दोहे का तो स्पष्ट अर्थ है—"नित्य यही संदेह रहता है कि इस वियोगिनी का जीव कैसे बचा हुआ है? यही अनुमान ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु-रूपी बाज विरहाग्नि की लपटों के डर से हंस-रूपी जीव पर झपट नहीं सकता।"

दोहे में 'संसौ' का अर्थ 'संदेह' बिलकुल स्पष्ट है। ब्रज-भाषा में संसौ शब्द संशय का रूप है। खेद है, जिन सज्जनों की समझ में दोहे का अर्थ भी नहीं आता, वे ही आक्षेप करने बैठ जाते हैं। यदि श्रीमिश्रबंधुओं ने देव कवि का काव्य दी ध्यान से पढ़ा होता, तो उन्हें 'संसौ' का अर्थ संदेह मिल जाता। यहाँ एक उदाहरण देखिए—

उत्तम मध्यम नीच क्रम लघु चिंता अवसाद;
महासोक ये घन गए हित संसौ सु बिषाद।
(भावविलास)

(५) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

सम रस समर-सकोच-बस बिबस न ठिकु ठहराति;
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति।
(बिहारी-सतसई)

इसमें बिहारीलालजी ने स्मर के अर्थ में जो 'समर' का प्रयोग किया है, इस पर श्रीमिश्रबंधुओं ने आक्षेप किया है, पर यह आक्षेप भी अनुचित है। ब्रज-भाषा के श्रेष्ट एवं प्रसिद्ध महाकवि इसे इसी रूप में लिखते आए हैं। श्रीमिश्रबंधुओं के समान ही श्री पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने भी अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में 'समर' के प्रयोग को अनुचित समझकर लिखा है—"बिहारी ने दो-एक स्थलों पर विकृत शब्द भी लिखे हैं। जैसे 'स्मर' के लिये 'समर'।" (पृ० २६२)

इसके विषय में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि जिस प्रकार स्नेह के स्थान में सनेह का प्रयोग शुद्ध ब्रज-भाषा है, उसी प्रकार स्मर

के स्थान में समर का प्रयोग भी शुद्ध ब्रज-भाषा है। विस्तार-भय से यहाँ दो प्रबल प्रमाण दिए जाते हैं—

(अ) ब्रज-भाषा के सर्वस्व महात्मा श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

निरखि सोभा समर लज्जित, इंदु भो श्रम-भोर ;
'सूर' धन्य सु बनि किसोरी, धन्य नंदकिसोर।
[सूरसागर (वेंकटेश्वर-प्रेस), पृष्ठ ३१०]

(आ) जिनकी ब्रज-भाषा को विनोद में श्रीमिश्रबंधुओं ने आदर्श ब्रज़-भाषा माना है, वह महान् आचार्य और कवि श्रीभिखारीदासजी ने भी 'समर' का प्रयोग 'स्मर' के अर्थ में किया है। देखिए—

सोहैं सरवंग सुख पुलक सुहाए हरि,
आए जीति समर समर महाराय सों।
(काव्यनिर्णय, पृष्ठ ४८, छं० सं० ३५)

इसमें भिखारीदासजी ने पहले समर का अर्थ युद्ध और दूसरे समर का अर्थ स्मर (काम) स्पष्ट ही लिखा है। तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी का प्रयोग अनुचित एवं निंद्य कदापि नहीं कहा जा सकता।

(६) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस।
(बिहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"सबील युक्ति के अर्थ में लाया गया है, इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग। 'भाई, इसकी कोई सबील निकाल दो' ऐसे वाक्य में सबील का अर्थ युक्ति माना जा सकता है, किंतु 'बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस' में युक्ति का अर्थ नहीं लगता है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं० पृष्ठ २८५)

यह आक्षेप भी निर्मूल है। सबील का प्रयोग दोहे में प्रयत्न के अर्थ में बड़ा औचित्यपूर्ण है। हिंदी-शब्द-सागर में इसके विषय में लिखा है—

"सबील—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रास्ता, मार्ग, सड़क। (२) उपाय, तरकीब, यत्न।"

(हिं० श० सा०, छठा खंड, पृ० ३४५२)

(७) महाकवि बिहारीलालजी ने पनिहा का प्रयोग जासूस या चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते है—"पनिहा चोरों का पता लगानेवालों के अर्थ में आया है शुद्ध बुंदेलखंडी शब्द है पनाही। जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता लगाता है, उसे पनाही कहते हैं। इसी से कवि ने मनमाना शब्द गढ़ लिया।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि सं० पृष्ठ २२८)

यह इन सज्जनों की भूल है। पनिहा शब्द पनाही से नहीं बना है। यह संस्कृत-भाषा के 'प्रणिधा' का अपभ्रंश (तद्भव रूप) है। प्रणिधा का प्रयोग संस्कृत में दूत या गुप्तचर के अर्थ में होता है इसी से पणिहा और फिर आधुनिक पनिहा बना है। इसे बिहारीलालजी की गढ़ंत कहना तो इन सज्जनोंकी अध्ययनहीनता का फल है। बिहारीलालजी के जन्म के बहुत पहले ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के गुरु प्रसिद्ध राधावल्लभी महात्मा श्रीहरिरामजी व्यास की रचना में इसका प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण यहाँ देखिए—

सैननि बिसरे बैननि भोर।

बैन कहत कासों पिय प्यारे, विहँसत कतहिं किसोर;
काके पायँ गहत मम प्यारे, कासों करत निहोर;
काहि न बिकल कियो नवनागर तुम पनिहा, तुम चोर।
निज बिहार आरोपि आन पर कोपि मान-गढ़ तोर;
ब्यास स्वामिनी बिहँसि मचाई सुरस-समुद्र-हिलोर।

इसमें श्रीव्यासजी ने पनिहा का प्रयोग चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है।

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने 'नीठि' शब्द का प्रयोग अरुचि अथवा अनिच्छा और 'नीठि-नीठि कर' का प्रयोग 'ज्यों-त्यों करके' अथवा 'कठिनता से' के अर्थ में किया है। इस पर इन सज्जनों ने आक्षेप किया है। पर यह केवल वितंडावाद है।

हिंदी-शब्द-सागर में इनका प्रयोग और अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"नीठि संज्ञा स्त्री०—अरुचि। अनिच्छा। (क्रिया) कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि करके = ज्यों-त्यों करके। किसी न-किसी प्रकार। कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि = त्यों-त्यों करके। किसी-न-किसी प्रकार। जैसे-तैसे। मुश्किल से। कठिनता से।"

(हिं०-श० सा०, पृष्ठ १८७४-१८७५)

इसका प्रयोग बिहारीलालजी ने बड़ा ही सुंदर किया है। शब्द-सागर में भी इनके पाँच दोहे उद्धृत किए गए हैं। वे ये हैं—

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हलाइ;
सदा समीपिन सखिन हू नीठि पिछानी जाइ।
चकी-जकी-सी ह्वै रही बूझे बोलति नीठि;
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि।
नेकु हँसौहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि;
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
नीठि-नीठि उठि बैठि हू पिय-प्यारी परभात;
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिर जात।
भौंहँ उचै, आँचर उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि;
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों जोरि।

इसका प्रयोग अन्यान्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में भी प्रचुरता से पाया जाता है। जैसे—

(अ) छूटी लट लटकाते कट-तट चितवति नीठि-नीठि कर ठाढ़ी।
(रसिक प्रिया)

चहुँ ओर चितै सत्रास, अवलोकियो आकास।
तहँ शाख बैठो नीठि तब परयो बानर दीठि।
(रामचंद्रिका)

(ब) बार अंध्यारनि में भटक्यो जु,
निकारयो मैं नीठि सुबुद्धिन सों घिरि ;
'दास' कहो अब कैसे कढ़ै
निज चाड़ सों ठोड़ी की गाड़ परयो गिरि।
(काव्य निर्णय, पृष्ठ ५६)

(स) आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सुहाई सूही ईंडुरी सुपट की ;
कहै 'पदमाकर' गहीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
(जगद्विनोद)

(ड) निठुर डिठौना दीन्हें नीठि निकसन कहै,
डीठि लागिबे के डर पीठि दै गिरत है।
(सुखसागर-तरंग, छं० २५१)

इसी प्रकार अन्यान्य कवियों की रचनाओं में भी इसके प्रयोग प्राप्त होते हैं।

(९) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

नैंकु न जानी परति यों, परचो बिरह तन छाम ;
उठति दिया लौं नादि हरि, लियैं तिहारो नाम।
(बिहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबधु लिखते हैं—"दिया लौं

नादि उठति', में नादि उठति सचेत होने के अर्थ में आया है, किंतु नाद से शब्द-संबधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २८८)

इसके संबंध में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने लिखा है-"जब दिए में तेल इत्यादि कम हो जाता है, और बुझने को होता है, तब पहले दो-एक बार भभककर बल उठता है। इसे दिए का नाँदना कहते हैं। (बिहारी-रत्नाकर, पृष्ठ ५२)

हिंदी-शब्द सागर में इसके संबंध में लिखा है—"नाँदना क्रि० अ० [स० नंदन] लहकना, लहलहाना। प्रफुल्लित होना।"

(पृष्ठ १७९५)

(१०) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा—

रस कैसे रुख ससि मुखी, हँसि हँसि बोलति बैन;
गूढ़ मान मन क्यों रहै भए बूढ़ रँग नैन।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'बूढ़' के 'बीरबहूटी' के अर्थ में प्रयोग पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"हमने ब्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ़। संभवतः बिहारीलालजी ने बूढ़ शब्द राम की डोकरिया से निकला हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है।" (हिंदी नवरत्न, पृष्ठ २८५)

न-जाने यह आक्षेप क्यों किया गया है। बूढ़ शब्द का प्रयोग बिहारीलालजी ने यहाँ संज्ञा पुंलिंग में किया है, जिसका अर्थ हिंदी-शब्द-सागर के अनुसार (१) लाल रग और (२) बीरबहूटी है। (देखो पृष्ठ २४८९)

फिर इसका प्रयोग ब्रजभाषा-काव्य में प्रचुरता से पाया जाता है। जिन भिखारीदासजी की भाषा को स्वयं मिश्रबंधुओं ने विशुद्ध एवं

आदर्श ब्रजभाषा घोषित किया है, उन्होंने भी अपनी रचना में बूढ़ का प्रयोग इंद्रबधू के अर्थ में ही किया है। देखिए—

नृत्यत कलापी, झिल्ली-पिक हैं अलापी,
बिरही जन बिलापी हैं मिलापी रसरास मै ;
संपा को प्रकाश बक-अवली को अवकास,
बूढ़नि-बिकास 'दास' देखिबो को या समै।
(काव्य-निर्णय पृष्ठ २६, छं० १७)

जब महाकवि दास-जैसे महान् भाषा-विज्ञ आचार्य 'बूढ़' शब्द का प्रयोग बीरबहूटी के अर्थ में करते हैं, तब यह सिद्ध है कि इसका प्रयोग निंद्य नहीं माना जा सकता।

(११) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा—

डारे ठोड़ी-गाड़ गहि नैन-बटोही मारि ;
चिलक चौंध में रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि।
(बिहारी-सतसई)

इसमें महाकवि ने चिलका का प्रयोग चमक के अर्थ में किया है। इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं-"चिलक हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहा करते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुंदेलखंड और ब्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है।"
(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८४)

और, विद्वानों का ऐसा निंद्य आक्षेप नापसंद है। जब बुंदेलखंडी और ब्रज में चिलक का अर्थ चमक माना जाता है, और सतसई ब्रज-भाषा में लिखी गई है, तब बिहारीलालजी का चिलक को चमक के अर्थ में लिखना प्रशंसनीय है। सतसई केवल श्रीमिश्रबंधुओं की पसंदगी के लिये नहीं लिखी गई है। यदि इन सज्जनों के समान

संस्कृत-भाषा का पंडित फारसी के दस्त और फारसी का मौलवी संस्कृत के 'पाद'-शब्द पर आपत्ति करने लगे, तो कैसा उपहास कृत्य होगा। फिर इसका प्रयोग व्रजभूमि और बुंदेलखंड के सैकड़ों प्रसिद्ध कवियों ने किया है।

इसी प्रकार के चार-छ शब्द और हैं, जिन पर इन महाशयों ने आक्षेप किया है, और जिनका औचित्य उपयुक्त प्रकार से भलीभाँति सिद्ध किया जा सकता है। और तो ठीक ही, इन सज्जनों ने तो अगिनि और आधीन-जैसे शब्दों पर भी निंद्य आक्षेप किया है। यह कोई विचारणीय आलोचना नहीं है। इन महाशयों के अनुचित आक्षेपों को लक्ष्य कर प० रामचंद्र शुक्ल ने बिहारीलालजी की भाषा के विषय में, अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में, आक्षेपों पर विचार करना व्यर्थ समझकर लिखा है—"जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रौन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत-शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है, और कबीर-जायसी-द्वारा बार-बार व्यवहृत हुआ है, 'सोन जाई' शब्द-स्वर्ण जाती' से निकला है--जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में वारि और 'वार' दोनों शब्द हैं, और 'वाद' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है। चलती व्रज-भाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है। 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा। यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ, तो बेचारे बिहारीलालजी का क्या दोष ?" (पृष्ठ २६२)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी की अप्रतिम, पीयूषवर्षिणी, अर्थ-गांभीर्यमयी, भावानुकूल भाषा पर कटाक्ष करनेवालों ने विना समझे-बूझे उसे सदोष कहा है, जो सर्वथा निंद्य है।

काव्य-कला-कुशलता

जो हित के साथ वर्तमान है, वह हुआ 'सहित,' और जिसमें 'सहित का' भाव हो, वह हुआ 'साहित्य'। इस प्रकार साहित्य वह है, जिसमें हितकारी भावों का वर्णन हो। यद्यपि साहित्य का यह अर्थ सर्वमान्य है, परंतु यथार्थ में किसी जाति अथवा राष्ट्र के पास जो ग्रंथ-समूह का संग्रह उसके शताब्दियों से संचित ज्ञान एवं उसकी भावनाओं को दिखलानेवाला होता है, वही उसका साहित्य कहा जा सकता है। ऐतिहासिक ग्रथों में साहित्य-शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में किया जाता है। स्थूल रूप से साहित्य के दो मूल-विभाग हैं-- (१) ज्ञान-प्रधान और (२) भाव प्रधान। इन्हें (१) विज्ञानमय साहित्य और (२) आनंदमय साहित्य भी कहते हैं। विज्ञानमय साहित्य का संबंध मस्तिष्क से है, और वह आवश्यकता-वाद के सकीर्ण घेरे में घिरा रहता है। इसके अंतर्गत दर्शन, गणित, इतिहास और अर्थ-शास्त्र आदि की गणना है। आनंदमय या भावमय साहित्य का संबंध हृदय से है, और यह आवश्यकता-वाद से परे लोकोत्तर आनंदप्रदाता है। इन दोनों में अर्थात् विज्ञान और काव्य में अपेक्षाकृत काव्य प्रधान है। ज्ञान की अपेक्षा भाव के प्रधान होने के कारण ही ज्ञानियों को भी भाव की शरण लेनी पड़ती है; क्योंकि भाव के बिना आत्मा आनंद-पूरित नहीं हो सकती। जिसकी प्राप्ति का उपाय ज्ञान बतलाता है, उसका अनुभव भाव-मुग्ध व्यक्ति अपने अंतर्हृदय में करता है। स्मरण रहे, विज्ञानमय कोष के भीतर ही आनंदमय कोष है। इसी से भाव-व्यंजक आनंद-मूलक साहित्य को प्रधानता दी जाती है, एवं विज्ञान-मूलक दर्शन और

इतिहास आदि की गणना उसके पीछे की जाती है।

काव्यानंद ब्रह्मानंद-सहोदर ह। काव्य की उपयोगिता सृष्टि में व्याप्य ब्रह्म के अनेक रूपों के साथ मनुष्य की जीवात्मा की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य स्थापित करने में है। वह हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित कर हमारे जीवन में एक नवीन स्फूर्ति डाल देता है। काव्य हमारे हृदय को विशाल बनाता है, जिससे हमें अनुभव होने लगता है कि सृष्टि की संपूर्ण वस्तुएँ हमारे ही आनंद से आनंदित हो रही हैं। पक्षी हमारे लिए ही राग अलापते हैं। सूर्य, चद्र, ग्रह और नक्षत्रादि हमारे हृदय की गति के अनुसार ही नाच रहे हैं। हमें जान पड़ता है कि यह शोभामय दृश्यमान जगत्, जिसके द्वारा हम अपने सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत कर रहे हैं, हमसे भिन्न नहीं हैं। यदि हमसे इसका भिन्नत्व होता, तो फिर यह सागर अपनी लहरों से हमारी मन-नौका को चलायमान कैसे करता। जो लोग कविता की उपयोगिता समष्टि के साथ व्यष्टि के तादात्म्य सबंध को स्थापित करने में मानते हैं, वे बड़े ही विचारशील हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि कविता भाव-प्रधान कला है, और कला का उद्देश्य सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत करना होता है। भाव-प्रधान काव्य-साहित्य में सबसे श्रेष्ठ भाव प्रेम भाव है। इस प्रकार सर्व-श्रेष्ठ काव्य-साहित्य वह है, जिसमें प्रेम और सौंदर्य का वर्णन रहता है। जिस साहित्य का लक्ष्य प्रेम और सौंदर्य है. वह कल्पना की मधुरिमा से संसार को रंजित कर उसमें सर्वथा अनिंद्य सुषमा का मनोरम दृश्य दिखलाता है। हमारे सर्वापेक्षा महान् एवं वैज्ञानिक प्राचीन आर्य-साहित्य में रस ही को काव्य का प्राण माना है; एव यह व्यवस्था दी है कि स्थायी भाव ही आलंबन और उद्दीपन-विभाव एवं अनुभाव और सचारी भावों से पुष्ट होकर रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि करता है। रस-अंगी के साथ काव्य में छंद, अलंकार-गुण, रीति एवं व्यग्य आदि क

भी वर्णन रहता है। ये सब रस-अंगी के अंग बनकर उसके उत्कर्ष एव पूर्णत्व में सहायक होते हैं।

काव्य के महाकाव्य, खंड काव्य, नाटक, चंपू, उपन्यास और आख्यायिका आदि अनेक भेद हैं, जिनके उपभेदों का सांगोपांग विस्तृत वर्णन आर्य-साहित्य के साहित्य-रीति-ग्रंथों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। गद्य-पद्यात्मक इन दृश्य-श्रव्य काव्य-भेदों के इन रीति-ग्रंथों में विवेचनात्मक वर्णन मिलते हैं, जिनमें शास्त्रीय वैज्ञानिक विश्लेषण का उत्कर्ष दृष्टव्य है। इन सब काव्य-भेदों में एक भेद मुक्तक माना गया है। मुक्तक उस पद्य-छंद को कहते हैं, जिसका संबंध अगले अथवा पिछले पद्यों से नहीं रहता, और जो अपने निबद्ध विषय को स्पष्टतया पूर्णरूपेण व्यक्त करने में अकेला ही समर्थ होता है। यह सत्य है कि मुक्तक की रचना काव्य-कला-कुशलता का चरम आदर्श है। एक पूरे प्रबंध (ग्रंथ) में विस्तृत कथानक का आश्रय लेकर कवि को रस-स्थापना का जो कार्य करना पड़ता है, वही कार्य एक छोटे-से मुक्तक छंद में कर दिखाना विलक्षण काव्य-रचना-सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। एक छोटे-से स्वतंत्र पद्य में स्थायी भाव, आलं-बन-विभाव, उद्दीपन-विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परि-पूर्ण रस का सागर लहराना, एक संपूर्ण आख्यायिका को इने-गिने ध्वन्यात्मक शब्दों में भर दिखाना, कथन-शैली में एक निराला बाँक-पन, एक निराला चमत्कार पैदा करना, उपमान-उपमेयों द्वारा भाव-साधर्म्य अथवा भाव-वैधर्म्य के अलंकारिक वेष को सजाना और सबके ऊपर देश-काल-पात्र के सर्वथा अनुकूल, स्वाभाविक, प्रवाह-मयी अलंकृत और मुहावरेदार, गंभीर, अर्थमयी, नपी-तुली, भावा-नुकूल, प्रांजल भाषा का सहज सुकुमार प्रयोग करना सचमुच असा-धारण प्रतिभा और भारी क्षमता का कार्य है। मुक्तक की रचना प्रधानतया व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य में होती है। यथार्थ में मानव-प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करना, प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं

प्रकृति की अनुभूति के साथ गहन-से-गहन निगूढ़ रहस्यों का उद्-घाटन करना मुक्तकों की रचना का आदर्श होता है।

एक तो मुक्तक की रचना करना ही कठिन है, फिर अपनी संपूर्ण रचना केवल थोड़े-से मुक्तकों में रख जानेवाले ऐसे सिद्ध सारस्वतीक महाकवि थोड़े ही हुए हैं, जो नपे-तुले दस-पाँच शब्दों में ही मनो-भावों की सजीव मूर्ति का रसमय शब्द-चित्र अंकित कर अपनी प्रखर प्रतिभा और कवि-कल्पना के बल से कुछ अनोखा प्रतीय-मान सौंदर्य दिखलाकर, कला-प्रेमियों के हृदय पर अपनी छाप छोड़ सके हों। महाकवि श्रीबिहारीलालजी संसार के उन कतिपय-महान् कवीश्वरों में हैं, जिन्होंने अपनी संपूर्ण रचना मुक्तकों में ही की है। थोड़े-से ध्वन्यात्मक अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण शब्दों में मनोरम आख्यायिकाओं को झलकाकर सजीव भाव-पूर्ण मनोहर काल्पनिक मूर्तियों को अंकित करने में बिहारीलालजी अप्रतिम हैं। अत्यंत संक्षेप में एक पूरे कथानक को कुशलता से भरकर उसमें किसी प्रधान रस को मनोरम अनुभावों द्वारा प्रवाहित करने और साथ ही अलंकार, छंद, व्यंग्य, रीति और गुणों आदि काव्यांगों का सुंदर निर्वाह करते हुए मानव-प्रकृति का निगूढ़ रहस्य प्रकट करने में बिहारीलालजी अत्यंत श्रेष्ठ हैं। व्यंग्य-प्रधान काव्य में अर्थ-सौरभ-पूर्ण अधखुली शब्द कलिकाओं के सुंदर, छोटे स्तवकों का संग्रह देखकर बिहारी-सतसई की प्रशंसा ही करते बन पड़ती है।

बिहारीलालजी की काव्य-कला-कुशलता के विषय में मैं कहाँ तक लिख सकूँगा, इसका मुझे भय है। बड़े-बड़े महारथियों ने बिहारी-सतसई की टीका लिखी, पर वे भी पूर्णरूपेण प्रकाश न डाल सके। कोई भी गर्व से यह न कह सका कि मैं बिहारी सतसई के दोहों का अनूठापन पूरी तरह समझ सका हूँ। फिर मैं यह दावा किस प्रकार करूँ? परंतु प्रसंग-वश मैं भी सतसई के कुछ ऐसे दोहे दिखलाता हूँ, जिनमें उत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता हो।

वैसे तो बिहारी-सतसई का प्रत्येक दोहा बहुत उत्कृष्ट है, पर यहाँ मैं कुछ नमूने के तौर पर दिखलाता हूँ। देखिए—

प्रियतम ने रात्रि में अन्य नायिका से सुरति की है। उसके शरीर पर अन्य-स्त्री-संभोग-सूचक चिह्न थे। प्रौढ़ा धीरा-धीरा नायिका ने उसे देखकर कोप किया है। नायक उसे चंद्रमुखी कहकर संबोधित करता है। इसका वह कैसा मुँहतोड़ उत्तर देती है। व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य का कैसा चमत्कार है। देखिए—

(१) ससि-बदनी मोसों कहत, सो यह साँची बात ;
नैन-नलिन* ये रावरे न्याय† निरखि नै जात।

(बिहारी-सतसई)

भावार्थ—हे नायक ! जो आप मुझसे शशिमुखी कहते हो, सो ठीक है। मेरा मुख सचमुच चंद्रमा है। क्योंकि यदि मेरा मुख

---

* नलिन का अर्थ कमल है। यह पुलिंगवाची है, देखिए—

कुमुदिन्यां नलिन्यां तु बिसिनी पद्मिनी मुखा ;
वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।
(अमरकोष वारिवर्ग, श्लोक-सं० ३९)

† यहाँ चद्र-चद्रिका-न्याय से तात्पर्य है, क्योंकि कमल को संकुचित करने का गुण चंद्र में सदैव रहता है। देखिए—

जाको गुण जन्न जाहि सों कबहुँ जुदो नहिं होय ;
भली भाँति लख लीजिए चंद्र-चंद्रिका सोय।
(काव्यप्रभाकर, पृष्ठ ६२९)

चंद्रमा न होता, तो आपके नेत्र जो कमल हैं, उसके (मुख के) सम्मुख संकुचित होकर नीचे की ओर न जाते (लज्जा से आँखें नीची न होतीं)।

जिस काव्य में रस, व्यंग्य की प्रधानता, अलंकार और माधुर्यादि गुण हों, वही काव्य आचार्यों ने श्रेष्ठतम माना है। प्रस्तुत दोहे में इन सबका समावेश विदग्धता से किया गया है। उपर्युक्त दोहे में नायिका का कोपावेश देखकर, अपराधी नायक लज्जित होकर नीचे की ओर देखने लगता है। वह नायिका के मुख की ओर देखने का साहस नहीं करता। परंतु नायिका का कोप पूर्णरूपेण प्रकट भी नहीं होता। वह कटु शब्द नहीं बोलती। बुरा-भला नहीं कहती। केवल उसकी मुखाकृति या उसके व्यंग्य-वचन बोलने से ही नायक को जान पड़ता है कि वह उससे (नायक से) कुपित हो गई है। अतएव धीराधीरा नायिका है क्योंकि—

लक्षण धीराधीर को कोप प्रकट अरु गोप।

(भाषाभूषण)

व्यंग्य-सहित होने से प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती के शुद्ध और गौणी दो भेदों में से शुद्ध लक्षणा है। शुद्ध लक्षणा के भी आचार्यों ने जो चार भेद माने हैं, उनमें से सारोपा लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा होने से लक्षणा-मूलक व्यंग्य है। वह भी आर्थी व्यंग्य है। ध्वनि व्यंग्यार्थ है।

दोहे में नायक-नायिका शृंगार-रस के आलंबन हैं। उद्दीपन शृंगार-रस में सर्वदा अपेक्षित नहीं है। नेत्रों का अधोमुख होना आदि अनुभाव है। नायक का नायिका के मुख की ओर देखकर लज्जित होना तथा नायिका का नायक को अपने सम्मुख देखने में असमर्थ पाकर अपने मुख को चंद्रमा और नायक के नेत्रों को कमल कहना क्रम से लज्जा और गर्व-संचारी भावों का स्पष्टीकरण करते

है। स्थायी भाव रति है। इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि से वर्धित हुआ पूर्ण शृंगार-रस दोहे में अपनी छटा दिखा रहा है। फिर शृंगार के सहायक हास्य की भी दोहे में एक हल्की, पर सुखद झलक है। कथन का बाँकपन और भाषा का औचित्य-पूर्ण प्रयोग-साम्य होना तो सोने में सुगंध है। फिर देखिए 'शशिवदनी' के मुखचंद्र के सम्मुख 'नैन-नलिन' का 'नै' जाना परिणामालंकार को कैसा समुज्ज्वल कर रहा है। माधुर्य और प्रसाद-गुण की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

इस दोहे के भाव को लेकर बनाए हुए दो पद्य देखिए। बीर कवि लिखते हैं—

हेरति ही सौंहैं लाल जानै अरसौंहैं, तऊ
तिन्हैं ताकि काम-बान लागत अनैसे हैं;
रस-भरे, लाल तैसे, एऊ रस-भरे लाल,
भौंर ठौर देखियत तारकानि तैसे हैं।
इतनो अचंभो मोहिं आवत है 'बीर' कवि,
जानो नहीं कबतें सुभाइ गहे ऐसे हैं;
रैन रहें खुले दिन देखि मुँदे आवत हैं,
रावरी सों रावरे कमल-नैन कैसे हैं;

बिहारीलालजी के इसी उत्कृष्ट दोहे के भाव को लेकर आधुनिक कवि मुंशी कालीचरणजी (सेवक) ने निम्न-लिखित मनोहर छंद बड़े ही अनोखे ढंग से कहा है। देखिए—

सगुन - अगुन रूप आपको बदत बेद
हिये बिन गुन माल सोहै सोई अंक है;
नैन मद-भरे कबि सेवक कहत साँच,
अट-भर बैन, भासैं लटपट अंक है।

आरसी दिखाय मनमोहन को बार-बार
भामिनि यौं गूढ़ बैन कहत निसंक है ;
संकुचित कंज-नैन रावरे बिलोकियत,
साँची तुम कहौ मेरो आनन मयंक है।
(२) घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज ,
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती - कुंज ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वर्णित नायिका स्वयं अपना दूतत्व करती है, अतएव वह स्वयं दूतिका है। वह वचन-चातुरी से अपना मतव्य नायक पर प्रकट करती है। और उसे सहेट के योग्य स्थान बतलाती है। वह उस मनचाहे नायक पर यह भी व्यंजित कर देती है कि तुम जाकर सहेट में ठहरो, मैं तुमसे वहाँ किसी बहाने आकर मिलती हूँ। कहती है—"यमुना के तीर पर तमाल-तरु से मिले हुए एवं सुंदर भ्रमर-समूह से मढ़े हुए मालती के कुँज में घड़ी-भर ठहरकर घाम निवारण कीजिए।"

इस कथन में वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ में ही उसी प्रकार शोभा दे रहा है, जिस प्रकार देह के अतिरिक्त जीव देह में शोभा देता है। इस दोहे का प्रत्येक पद पृथक् रूप से देखिए—

(अ) 'घाम घरीक निवारिए'—इससे नायिका का यह अभिप्राय व्यंजित होता है—"हे नायक ! तुम वहाँ घड़ी-भर ठहरकर मेरी बाट जोहना। मैं अवश्य आऊँगी। मेरे आने में कुछ विलंब देखकर तुम मेरे न आ सकने का संदेह करके कहीं अन्यत्र न चले जाना। वहाँ बड़ी सघन छाया है, इससे हमें वहाँ कोई न देखेगा। तुम देखोगे, वहाँ इतनी सघन छाया है कि धूप नहीं पहुँच पाती।"

(ब) 'कलित ललित अलि-पुंज'—इससे वह यह व्यंजित करती है कि वह स्थान सहेट के सर्वथा योग्य और प्राकृतिक सौंदर्य-संपन्न है,

जहाँ सुगंधित, विकसित सुमनों के पराग के लोभी भ्रमर-समूह मढ़े हैं। इससे यह भी तात्पर्य है कि उस मार्ग से लोगों का आवागमन भी नहीं होता, क्योंकि यदि लोगों का आवागमन उस स्थान में रहता, तो वहाँ भ्रमर-समूह का मढ़ा हुआ होना कैसे संभव था, अतः समझ लो कि प्रणयियुग्म के सम्मिलन-योग्य वह सहेट स्थान सर्वथा उपयुक्त एव रमणीय है।

(स) 'जमुना-तीर'—इससे नायिका यह व्यंजित करती है कि वह स्थान बस्ती से दूर है, और वहाँ मेरा आना जल भरने के बहाने बेखटके हो सकता है। 'जमुना-तीर' से उद्दीपनकारी, शीतल समीर होने का भी अर्थ ध्वनित होता है।

(ड) 'तमाल-तरु मिलित मालती-कुंज'—इसके वह यह व्यंजित करती है कि वह स्थान उद्दीपनकारी भी यथेष्ट है। वहाँ मनुष्यों और पशु-पक्षियों की कौन कहे, तमाल-तरु और मालती-बेलि आपस में पुरुष-स्त्री-भाव से मिले हुए—लिपटे हुए—हैं।

इस दोहे में रति स्थायी भाव है, जो रसोत्पत्ति-पर्यंत अतिरस्कृत रूप से ठहरता है। वह रति स्थायी भाव नायिका के हृदय में नायक का अवलंबन करके ठहरता है। अतएव नायक उस रति स्थायी भाव का आलंबन विभाव है। नायक के सौंदर्य और गुण आदि का दर्शन उस रति स्थायी भाव के उद्दीपन विभाव हैं। उससे मिलन की अभिलाषा संचारी भाव है। सहेट में मिलने के हेतु नायिका का चातुर्य-पूर्ण कथन अनुभाव है। दोहे में स्थायी भाव रति के साथ आलंबन और उद्दीपन विभाव एवं अनुभाव और संचारी भाव का समुचित समावेश होने से शृंगार-रस का प्रस्फुटन अच्छा हुआ है। नायक उपपति और नायिका परकीया है, जो रूप, यौवन एवं विद्या-चातुर्य-संपन्ना है। नायक भी क्रिया-चतुर और वचन-विदग्ध जान पड़ता है, तभी नायिका उसे व्यंग्यार्थ द्वारा गूढ़ भाव से समझाने का साहस करती है।

इस प्रकार इस दोहे में व्यंयार्थ इष्ट होने से इसमें ध्वनि का प्राधान्य है। इस ध्वनि को केवल साहित्य-मर्मज्ञ और मनोभावों के प्रवीण वेत्ता ही जान सकते हैं, अतएव गूढ़ ध्वनि है। फिर भी इसमें वाच्यार्थ का संपूर्णतया परित्याग नहीं हुआ है, और व्यंग्यार्थ द्वारा एक घटना-विशेष का बोध कराया गया है, इससे यह विवक्षित वाच्यांतर्गत वस्तुध्वनि का स्वरूप है। इस दोहे में महाकवि बिहारी-लालजी ने ध्वनि को ही प्रधानता दी है, इसीलिये ध्वनि-चमत्कार इतना प्रबल है कि उसके कारण दोहे में अलंकारों की वैसी प्रमुखता नहीं रही। फिर भी इस दोहे में पर्यायोक्ति अलंकार की अच्छी छटा है। माधुर्य-गुण का प्राधान्य होने से संपूर्ण दोहे में मधुरा या कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य उत्तम काव्य माना जाता है। व्यंजक पात्र की आधार शुद्ध परकीया और उपपति माने जाते हैं, सो बिहारीलालजी के दोहे में भी व्यंजक पात्र के आधार ऐसे ही हैं। इतना सब होने पर भी भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और अर्थव्यक्त गुण के साथ-साथ अव्यर्थपदत्व का होना बड़ा ही प्रशंसनीय है।

इस दोहे में अनेक काव्य-गुण हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार-भय से नहीं दिखला सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि दोहे में शृंगार-रस का प्रस्फुटन श्रेष्ठ कलात्मक ढंग से, समर्थ मनोहारिणी भाषा में, निराले ढंग से, हुआ है।

(३) मृग-नैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल ;
बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'पलटन लगी दुकूल' से यह ध्वनित होता है कि नायिका उत्तमा स्वकीया है, उत्कृष्ट पतिव्रता और धर्मवती सती है। वह पति के विरह में मलिन वेश धारण किए हुए थी, परंतु आज पति के

आगमन की सूचना पाकर वह सुहागिनी, पति-गत-प्राणा, सती प्रियतम-विरह की अवस्था के मलिन वेष का त्याग करती है—उत्तम वस्त्रा-भूषण धारण करती है। प्रिय पति के आगमन के उल्लास से उल्लासिनी नायिका आज उसकी—अपने प्रियतम की—प्रसन्नता के हेतु सुंदर शृंगार सजती है। वह रात-दिन—तीस दिन—अपने प्राणप्यारे के आगमन की प्रतीक्षा में तन्मय रहती थी। आज बाई आँख फड़कते ही उसने जान लिया कि मंगल होगा। प्रियतम-विरहिणी प्रेमिका पतिव्रता को मंगल तभी है, जब प्राण-प्यारा पति निकट हो। उसने जान लिया, उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि ये सब शुभ शकुन प्राणप्यारे के आगमन की सूचना दे रहे हैं। उमंग में भरकर, वह अपने वियोग-सूचक मलिन वस्त्रों को त्याग-कर नवीन धारण करने लगी। उसके हृदय में प्रियतम से मिलन का उछाह था और इसी से उसके शरीर में रोमांच हो आया। वह उत्कृष्ट प्रेमिका प्रेम-पात्र से मिलने के आनंदमय विचारों में ऐसी विभोर हो गई, इतनी प्रेम-विह्वला इतनी आत्मविस्मृता—हो गई कि उस ध्यान द्वारा सम्मिलन के आनंद में ही उसे सुध-बुध न रही। न्योछावर आदि व्यावहारिक कार्य करने का उसे ध्यान तक न रह गया। प्रेम की संलग्नता की इसमें चरम-सीमा है।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी के अन्यान्य सैकड़ों दोहों के समान ही अलंकारों की अद्भुत छटा है। देखिए—

(१) 'मृग नैनी'—साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अल-कार है।

(२) 'उर-उछाह'—छेकानुप्रास है, जो उकार की पुनरावृत्ति से स्पष्ट हो रहा है।

(३) 'बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल'—प्रियतम के आगमन-रूप आधार का अभाव रहते हुए भी आगमन पर की

जानेवाली 'शृंगार सजने की' क्रिया को नायिका करने लगती है, अतएव 'विशेषालंकार' है।

(४) 'दृग की फरक'—दृग की फरक रूप अपूर्ण हेतु से शृंगार सजने का कार्य पूर्ण हुआ, अतएव, द्वितीय विभावना अलंकार है।

(५) आगमन-रूपी कारण के बिना ही शृंगारादि सजने का कार्य होने लगा, अतएव प्रथम विभावना अलंकार हुआ।

(६) दृग की फरक, उर उछाह और तन-फूल इनका एक ही धर्म है, अतएव तुल्ययोगिता अलंकार की झलक है।

(७) दोहे में दृग की फरक, उर-उछाह और तन-फूल में मन की प्रसन्नता को प्रसन्नता देनेवाली कई बातों का एक साथ वर्णन हुआ है, इससे सहोक्ति अलंकार हुआ। क्योंकि—

> जहँ मन-रंजन बरनिए एक साथ बहु बात,
> सो सहोक्ति आभरण है ग्रंथन में विख्यात।

(८) दृग की फरक आदि केवल उत्पादक हेतु का वर्णन रहने और कार्य-कारण एक साथ वर्णित होने से हेतु अलंकार हुआ।

(९) दोहे में उर-उछाह, तन-फूल एवं दृग की फरक-रूप तीनों कारणों से दुकूल पलटने का कार्य होता है, अतएव द्वितीय समुच्चय अलंकार हुआ। क्योंकि—

> एक काज के करन को होय जु हेतु अनेक,
> ताहि समुच्चय दूसरो बरनैं कवि सविवेक।

(१०) दृग-फरक, उर-उछाह और तन-फूल में अर्थावृत्ति दीपक है।

इस प्रकार इस दोहे में १० अलकारों का समावेश होने से संकर अलंकार है। दोहे में शृंगार-रस का भी बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण वर्णन है। मृग-नैनी नायिका का आश्रय, प्रेम-पात्र नायक आलंबन और दृग की फरक आदि उद्दीपन विभाव हैं। सुंदर दुकूल पलटना

अनुभाव हैं। उत्कंठा, हर्ष और अवहित्थादि संचारी भाव हैं। ललित हाव का लालित्य दर्शनीय है। रति स्थायी भाव है।

इस प्रकार इस छोटे-से दोहे में शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आगतपतिका नायिका शृंगार-रस का सर्वस्व हो रही है। अन्यान्य काव्य-गुणों में भी दोहा बहुत उत्कृष्ट है।

(४) सोवत, जागत, सुपन-बस, रिस, रस, चैन, कुचैन ;
सुरत श्यामघन की सुरत बिसरैं हूं बिसरै न।
(बिहारी-सतसई)

किसी ब्रज-बाला पर घनश्याम के प्रेम का जादू चल गया है। वह प्रेमोन्मत्ता एक पल के लिए भी, कभी किसी दशा में भी, घनश्याम को नहीं भूलती। उसकी स्मृति घनश्याम के भावमय हो रही है। वह अनन्य प्रेमिका सोवत में 'रिस-बस', जागत में 'रस-बस' और स्वप्न में 'चैन-कुचैन-बस' है। उसे घनश्याम (श्रीकृष्ण) की स्मृति किसी भी भाँति विस्मृत नहीं होती। वह सोते में निद्रा की रिस के बस है। उसे वियोगिनी समझकर निद्रा उससे रुष्ट हो गई है। उसके नेत्रों में प्रियतम का बास देखकर अब उनमें निद्रा नहीं आती। प्रेमिका नायिका भला प्रेम-पात्र के विरह में सो ही कैसे सकती है? उसे तो प्रिय-मिलन की चिंता है। और, जहाँ चिंता है, वहाँ निद्रा आती ही कहाँ है? इसी पर एक प्रेमी सुकवि ने यह दोहा कहा है—

नींद पुरानी ग्रेहिनी राति न आई हाय!
चिंता-नव बधु देखिकै झाँकि झाँकि चलि जाय।

वह जागते में 'रस-बस' है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में प्रियतम का ध्यान करते-करते उसकी, बिहारीलालजी के शब्दों में ही, ऐसी दशा हो गई है कि 'पिय के ध्यान गही-गही रही वही है नारि ; आपु-आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।' इसी दशा में

ध्यान-तन्मयता में उसे बड़ा आनंद या रस प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था में वही नायिका 'चैन-कुचैन-बस' हो जाती है। अर्थात् जब जागते-जागते शरीर शिथिलता का अनुभव करता है, और अर्ध-निद्रित अवस्था हो जाती है, जो जागने और सोने के मध्य की अवस्था है, तब उसे ध्यान-तन्मयता के कारण उसके प्रियतम घनश्याम श्रीकृष्ण, जिनका उसे निरंतर ध्यान रहता है, उसके पास ही बैठे दिखाई देते हैं। वह स्वप्न में देखती है कि मुरलीमनोहर घनश्याम उसके करतलद्वय को अपने हाथों में लिए उसके सुंदर अधरों का चुंबन कर उसकी विरह-ज्वाला शांत कर रहे हैं ! तब उसे चैन है। परंतु ज्यों ही वह प्रेमावेश में अपनी कोमल, मृणाल-सी बाहुओं को प्रियतम के कंबु-कंठ में डालना चाहती है, त्यों ही वह सुभग, श्यामल मूर्ति अंतर्धान हो जाती है। स्वप्न का सुख आलसी के उत्साह के समान नष्ट हो जाता है, और उसे अपनी विरहावस्था का स्मरण हो आता है। इस प्रकार वह नायिका स्वप्नावस्था में चैन और कुचैन दोनों के 'बस' होती है। घनश्याम की सूरत का ध्यान वह भुला देना चाहती है, पर नहीं भुला सकती।

अब दोहा रूपी मंजूषा में भरे अनेक बहुमूल्य अलंकारों की छटा का भी कुछ परिचय प्राप्त कीजिए—

(१) सोवत-बस रिस, जागत-बस रिस और सुपन-बस चैन-कुचैन का वर्णन क्रम से है, अतएव दोहे में उत्कृष्ट क्रमालंकार है।

(२) सोवत, जागत, रिस, रस, चैन, कुचैन और बिसरै हूँ बिसरै न में दोनों प्रकार के—आदि-अंत के—छेकानुप्रासों की छटा छहर रही है।

(३) बस, रिस, रस और सुरत, श्यामघन तथा सुरत में दोनों प्रकार के वृत्त्यानुप्रास हैं।

(४) 'सुरत श्यामघन की सुरत बिसरै हूँ बिसरै न' में स्मृति अलंकार का अच्छा प्रस्फुटन है।

(५) बिसारने की क्रिया-रूप कारण के विद्यमान रहते हुए भी विस्मृति-रूप कार्य नहीं होता, अतएव विशेषोक्ति अलंकार है।

(६) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में जब, जहाँ, जिस भाव में देखती है, तब, वहाँ उस भाव में नायिका को घनश्याम दिखाई देते हैं। उसके स्मृति-पटल पर घनश्याम की मूर्ति अंकित हो गई है। घनश्याम की सूरत की सुरत वह भूलती ही नहीं है। इसमें एक घनश्याम का अनेक स्थिति और स्थलों पर युक्ति से वर्णन होने के कारण तृतीय विशेषालंकार हुआ।

(७) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में अनेक भावों का एक साथ गुंफन होने से समुच्चय अलंकार हुआ।

(८) नायिका प्रथम सुषुप्तावस्था का आश्रय लेती है, फिर जाग्रत अवस्था का और पश्चात् शिथिलता आने पर आलस्य के कारण स्वप्नावस्था का आश्रय लेती है, और—'एक बस्तु क्रम सों जहाँ आश्रय लेय अनेक, ताहि प्रथम पर्याय कबि बरनैं सहित विवेक।' इसमें प्रथम पर्याय अलंकार हुआ।

(९) 'जागत में रस-बस'—इसमें वियोगिनी को प्रियतम-विरह में, जाग्रत अवस्था में दुःख उत्पन्न न होकर, ध्यानावस्थित होने से प्रियतम की एक प्रकार से प्राप्ति हो जाने का भ्रम होने के कारण रस (आनंद) का अनुभव होता है, और जहाँ 'जाको जो कारण नहीं उपजत ताते तौन' वहाँ चतुर्थ विभावना अलंकार होता है।

(१०) नायिक की विकलता आदि का वर्णन किया है, पर दोहे में स्पष्टया यह कहीं नहीं लिखा कि वह विरहिणी है, और विरहा-धिक्य के कारण उसकी ऐसी व्याकुल स्थिति है, अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार हुआ।

(११) 'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में 'बस' शब्द का प्रयोग देहरी-दीपक अलंकार का उदाहरण है।

(१२) 'सुरत स्यामघन की सुरत' में एक 'सुरत' का अर्थ सूरत या स्वरूप और दूसरे 'सुरत' शब्द का अर्थ 'ध्यान' है अतएव यमक अलंकार है।

(१३) दोहे में दंत्य अक्षरों का अधिकतर प्रयोग किया गया है। इससे छंद में मधुरता आ गई है, अतएव श्रुत्यानुप्रास है।

(१४) 'सुरत स्यामघन की सुरत बिसरैं हू बिसरै न' इस उत्पादक हेतु से सोवत, जागत, सुपन, रिस, रस, चैन, कुचैन हैं, अतएव हेतु अलंकार है।

(१५) घनश्याम साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर का उत्कृष्ट उदाहरण है, क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छवि-रूप श्रीकृष्ण का बोध होता है, जो रस (जल) की वर्षा करते हैं।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने विरह-व्याकुल प्रोषित-पतिका नायिका के विरह की स्मरणावस्था का बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है। दोहे में वियोग-शृंगार की पूर्णता दर्शनीय है। स्थायी भाव रति है, क्योंकि स्मरण होने से नायक-दर्शन की जो प्रबल आकांक्षा होती है, वह कुछ समय तक ठहरकर चली नहीं जाती, वरन् रति के स्थायित्व के कारण अविछिन्न प्रेम होने से स्थिर रहती है। घनश्याम वियोग-शृंगार के आलंबन हैं। प्रियतम की स्मृति उद्दीपन विभाव है। बिछुड़े हुए नायक की स्मृति होने से—'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' का होना अनुभाव है सोवत (निद्रा), सुपन (स्वप्न), सुरत (स्मृति), चैन (हर्ष) एवं कुचैन (व्याधि) आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार दोहे में वियोग शृंगार की पूर्णता है। माधुर्य एवं प्रसाद-गुण के साथ भाषा और भाव के सरस प्रवाहमय वर्णन-शैली की

मनोहरता के साथ कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का अच्छा सामंजस्य है।

(५) बाल-बेलि सूखी सुखद इहि रूखी रुख घाम ;
फेरि डहडही कोजिए सरस सींचि घनस्याम।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे में परकीया का पूर्वानुराग उद्वेग दशा में किस प्रकार झलक रहा है, यह दर्शनीय है। उसकी विरहावस्था बड़ी शोचनीय है। वह वियोग में घुल-घुलकर बिलकुल शक्ति-हीन हो गई है। केवल शक्ति-हीन ही नहीं, बिलकुल सूख जाने की स्थितिवाली बेलि के समान उसकी दशा हो गई है। यही देखकर उसकी सखी घनश्याम से नायिका की बिरह-व्याकुल-दशा का निवेदन करती हुई कैसे सुंदर, श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर अपनी अद्भुत वाक्चतुरता का परिचय देती कहती है—"हे घनश्याम ! वह सुखद (हरी-भरी, तरोताजा, डहडही कांतिवाली) बाला-बल्ली तुम्हारी इस रूखी रुख की (दाहक) धूप से सूख गई है (सूखकर काँटा हो गई है)। अब आप तुरंत ही नेह-मेह खींचकर उसे पुनः हरी-भरी कीजिए।"

इसमें घाम में सुखद बेलि का रस (जल) के सींचन के अभाव में सूख जाने का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है। वही सूखी-शब्द, श्लिष्ट अर्थ लेने पर, दुबली हो जाना भी बतलाता है, और प्रेमिका नायिका का विरहावस्था में सूखकर काँटा हो जाना भी बड़ा ही स्वाभाविक है। 'सरस' में 'जल' और नेह (प्रेम) का सुंदर श्लेष है। 'घनश्याम' भी श्लेष वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। दोहे में घनश्याम से श्यामसुंदर श्रीकृष्ण और 'काले मेघ' दोनों अर्थ हैं। घनश्याम में साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अलंकार भी है। क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छविवाले श्रीकृष्ण का बोध होता है।

नव-यौवना बाला को सुखद बेलि और विरहावस्था में प्रेम-पात्र की रूखी रुख को घाम बनाकर महाकवि बिहारीलालजी ने बाला-रूपिणी वल्ली को कैसी विदग्धता से सुखाया है, यह दर्शनीय है। फिर उस बाला-वल्ली को सरस 'नेह-मेह' सींचकर डहडही (तरो-ताजा, हरी-भरी) करने की फरियाद घनश्याम (रसिक कृष्ण और सजल, श्यामल मेघ) से कितनी खूबी के साथ की गई है, यह देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

(६) देखौ, जागति वैसिए, साँकर लगी कपाट ;
कित ह्वै आवत-जात भगि, को जानै किहि बाट ?
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी के इस स्वप्न-दर्शन के वर्णनवाले दोहे का भाव हृदय-तल को हिला देनेवाला है। इसमें जितनी तन्मयता है, उतना ही बाँकपन भी। सीधे, सहज शब्दों में ऐसा अनूठा रस इस प्रकार प्रवाहित करने में हिंदी का कोई भी कवि समर्थ नहीं हो सका। इसमें प्रेमिका नायिका को स्वप्न में नायक के दर्शन होते हैं। वह अपनी सखी से कहती है—

हे सखी, देखो, (इस एक ही शब्द में आश्चर्य का भाव कैसे विलक्षण ढंग से सन्निहित है। कहनेवाली की व्यग्रता किस प्रकार निराले ढंग से सूचित हो रही है।) 'जागत वैसिए' (किस प्रकार अपनी सफाई दे रही है। साथ-साथ इस कथन में नायिका की विरहावस्था का भी अच्छा वर्णन है। कहती है—'मैं बियोग में वैसे ही जागती रहती हूँ।) 'साँकर लगी कपाट' (किवाड़ों में साँकल लगी ही है, जिससे जब तक हम किवाड़ न खोलें, तब तक कोई भी यहाँ—इस स्थान में—आ ही नहीं सकता)। परंतु फिर भी वह प्यारा कौन जाने 'कित ह्वै आवत' (कहाँ से आ जाता है) और फिर किस (बाट) रास्ते से भाग जाता है।

इस संपूर्ण दोहे में प्रेम की तन्मयता का अच्छा खेल दिखलाया गया है। जिस समय अर्ध-निद्रावस्था—स्वप्नावस्था—में नायिका नायक के ध्यान में तन्मय होती है, उस समय नायक उसके नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परंतु जैसे ही वह उसे छूने या पकड़ने की चेष्टा करती है, वैसे ही वह देखती है कि वहाँ कोई भी—कुछ भी—नहीं है। ध्यान की तन्मयता फिर होती है, और फिर वही प्रियतम नेत्रों के सम्मुख आ जाता है। पर स्पर्श-सुख के लिये उसकी ओर झपटने पर वहाँ कुछ भी नहीं मिलता। नायिका विक्षिप्त के समान उस ध्यान की मूर्ति को हृदय से लगाने के हेतु पलँग से उठकर उसकी ओर दौड़ती है, पर वह प्रेम-पात्र की मूर्ति अंतर्धान हो जाती है। तब वह किवाड़ों की ओर देखती है, पर उन्हें पहले के ही समान बंद पाती है। फिर मुँह फेरती है, तो वही प्रियतम की मोहिनी मूर्ति सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जब वह पुनः उसकी ओर झपटती है, तब वह मूर्ति पुनः अंतर्धान हो जाती है। नायिका किवाड़ों की ओर फिर देखती है, और उन्हें पूर्ववत् बंद पाती है। इस क्रीड़ा से जब वह घबरा-सी जाती है, तब पास में पड़ी हुई सखी से कहती है—"देखो, मैं जाग रही हूँ। किवाड़ों में वैसी ही साँकल लगी हुई है। कौन जाने मेरा वह प्रेम-पात्र यहाँ किस मार्ग से आ जाता है, और किस मार्ग से भाग जाता है।" इसमें कितना सुंदर कल्पनामय सजीव शब्द-चित्र है?

(७) लग्यो सुमन ह्वै है सुफल, आतप-रोस निवारि;
बारी, बारी आपुनी, सींचि सुहृदता-बारि।
(बिहारी-सतसई)

तरुणी नायिका के घर नायक के आने की बारी (पारी) है। नायिका यद्यपि नायक पर अनुरक्त है, पर उसके आने में विलंब होने के कारण वह कुपित होकर उद्यान में जी बहलाने के निमित्त

चली आई है। वहाँ उद्यान में माली तथा उस नायिका की बहिरंगिणी सखियाँ उपस्थित हैं। नायक के पास से उसकी अंतरंगिणी सखी वहीं आई है, और निम्न-लिखित वचन-चातुरी-पूर्ण बात कहती है। इसमें एक अर्थ तो माली पर लागू होता है, और दूसरा मुख्य अर्थ नायिका पर। सखी कहती है—

(१) माली के प्रति—हे (बारी) माली ! तेरी वाटिका में लगा हुआ यह सुमन (फूल) फल-युत (सफल) होगा। अतएव तू अपनी बगीची को सुहृदयता के जल से (ऐसे जल से जो सुहृद्वत् लाभ-दायक सिद्ध हो) सींच, और आतप (घाम) के रोष अर्थात् प्रचंड ताप को निवारण कर, आतप के प्रकोप से इसे बचाए रख।

(२) नायिका के प्रति हे भोली कमसिन ! अयि मुग्धे ! जो तेरे मन में लगा है, सो सफल होगा, अर्थात् तेरा अभीष्ट सफल होगा। मेरी रानी ! तू अपने इस दाह के रोष को दूर कर। तू अपनी पारी में नायक के प्रति क्रोध प्रदर्शित न कर। क्योंकि इससे उसे दुःख होगा, और फिर तेरे यहाँ आने से विरक्ति-सी होने लगेगी। तू तो अपनी पारी में नायक के प्रेम-प्यासे हृदय को अपनी मैत्री के जल से सींचकर हरा-भरा रख।

मर्मज्ञ देखें कि इस पद्य में समर्थ महाकवि बिहारीलालजी ने अंतरंगिणी सखी द्वारा नायिका की अभीष्ट गुप्त बात किस विलक्षण चतुराई से माली की ओट में बहिरंगिणी सखियों और माली के सामने खुले खजाने कहलवा दी है। महाकवि के इस दोहे में मानवती नायिका के प्रति अंतरंगिणी सखी की मान-मोचन एवं मैत्री-प्रदर्शन की शिक्षा के साथ-साथ श्लेष अलंकार का कैसा अद्भुत सामंजस्य है।

किसी प्रोषितपतिका नायिका को वियोग में जगत् अंधकारमय दिखलाई देता है, उसे चाँदनी भी अंधकार का ही रूपांतर प्रतीत होती है। वह अपनी सखी से चाँदनी के विषय में कहती है—

(८) जोन्ह नहीं यह तम वहै, कियो जु जगत निकेत ;
होत उदै ससि के भयो मानो ससिहर सेत ।
(बिहारी-सतसई)

"यह चाँदनी नहीं है। यह तो वही अंधकार है, जिसने संसार को अपना घर कर रक्खा है। जान पड़ता है, मानो चंद्रमा के उदय होने से वही अंधकार हटकर सफेद हो गया है।"

इसमें विरह-दशा में दाहक चाँदनी को विरहिणी का अंधकार समझना एवं प्रियतम के विरह में हर्षालोक के अभाव में उसे सारे संसार में अंधकार का प्रसार दिखाई पड़ना बड़े ही सच्चे वर्णन हैं। चाँदनी को अंधकार कहकर दोहे में जो यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उदय को प्राप्त हुए अपने सबल शत्रु चंद्रमा को देखकर डर से वही अंधकार श्वेत वर्ण का हो गया है, इसमें निराली कल्पना का सौंदर्य आ गया है।

अब देखिए, सजल, श्यामल मेघों पर नीले, पीले, लाल और हरे रंग के इंद्र-धनुष का अनुपम और चमत्कार-पूर्ण दृश्य प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी अपनी अनुपम सूक्ष्म दृष्टि से घनश्याम श्रीकृष्ण की हरे रंग की बाँसुरी में किस प्रकार दिखलाते हैं। हरे रंग की बाँसुरी, उस पर ओठों की लालिमा, दंतावली की सफेदी, पीतांबर का पीतवर्ण; नेत्रों की सफेदी, कालिमा और अरुणिमा, इंद्र-नीलमणि के वर्णवाले श्यामसुंदर के कपोलों और करों की नीलिमा आदि का आरोप इस वर्णन में बड़ी खूबी से हुआ है। इस प्रकार से इंद्र-धनुष के विविध रंगों का सम्मिश्रण श्यामसुंदर के अधरों पर रक्खी बाँसुरी में कर दिखलाना अपूर्व प्रतिभा-संपन्न महाकवि बिहारीलालजी का ही काम है। लिखते हैं—

(९) अधर धरत हरि के परत ओंठ-दीठ-पट-जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुष-रँग होति ।
(बिहारी-सतसई)

संपूर्ण हिंदी-साहित्य में इस दोहे की जोड़ का छंद ढूँढ़ निकालना कठिन है। हरि, हरित, अधर, धरत, परत, बाँस, बासुरी, जोति, होति आदि में जो शब्द-चमत्कार है, वह भला किस साहित्य-प्रेमी और कवि की बुद्धि को विमोहित न कर देगा। बड़े-बड़े धुरंधर "कवयोऽप्यप्रमोहिताः।" तद्गुणालंकार का यह दोहा अनुपम उदाहरण है।

अब एक रूपगर्विता कृष्णाभिसारिका परकीया का वर्णन देखिए। यह अपनी अंतरंगिणी सखी से गई रात्रि के अभिसार का हाल सुनाती हुई कहती है—

(१०) अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि।
(बिहारी-सतसई)

"हे अलि ! अर्ध मार्ग में चंद्रोदय देखकर मुझे अत्यंत (खरी) घबराहट हुई। परंतु भाग्य से (भागनु) मेरे शरीर की सुगंधि के कारण मेरे साथ लगे हुए भ्रमरों ने मार्ग को अंधकार-पूर्ण बना दिया।"

इसमें चंद्रोदय से घबराने से जान पड़ता है कि नायिका कृष्णाभिसारिका परकीया 'संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि' से भी परकीयात्व की पुष्टि होती है। दोहे में 'संग लगे मधुपन' से नायिका का पद्मिनी होना पाया जाता है। इस वर्णन में समर्थ महाकवि ने भौरों को किस प्रकार पद्मिनी नायिका के पीछे, उसके शरीर की सुगंध के लोभ से, दौड़ाया है। फिर आधे मार्ग में चंद्रोदय होना भी किस अनोखे ढंग से लिखकर नायिका को चौंका दिया है। परंतु फिर शीघ्र ही नायिका के चकित होकर, घबराकर खड़े हो जाने से पीछे लगे सुगंध-लोभी भ्रमरों के पास आ जाने पर अंधकार कराके उसकी घबराहट मिटाई है। यह सब कौशल दर्शनीय है। कृष्णपक्ष की रात्रि में भी पिछले प्रहरों में चंद्र का

उदय होता है, यह प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी ने कैसे अनोखे ढंग से वर्णन किया है ।

इस दोहे में श्रृंगार-रस का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। नायिका पद्मिनी नागरी है। रात्रि का अभिसार विशेषकर कुंजादि में जाना ग्रामीणता-सूचक कहा जा सकता है, पर काम की प्रबलता का वर्णन न होने से नागरत्व ही ठहरता है। पद्मिनी नायिका श्रृंगार-रस का आलंबन है। भ्रमर-गुंजार एवं अंधकार उद्दीपन विभाव हैं। अँधेरी रात्रि में अभिसार करना अनुभाव है। सटपटाने में शंका एवं त्रास संचारी भाव है, रति स्थायी भाव है ही। इस प्रकार दोहे में रति स्थायी भाव आलंबन और उद्दीपन विभाव अनुभाव एवं संचारी भाव से परिपुष्ट होकर पूर्ण श्रृंगार-रस की दसा को प्राप्त है। दोहे में नायिका का कृष्णाभिसारिका, पद्मिनी और परकीया होना व्यंग्य ही से जाना जाता है। अतएव यह दोहा व्यंग्य-प्रधान काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है, और व्यंग्य काव्य का जीव माना जाता है, इसलिये यह रचना श्रेष्ठतम है।

भाषा-सौंदर्य की भी दोहे में अनुपम छटा है। एक भी शब्द व्यर्थ या भरती का नहीं है। अन्वय देखिए—"अरी! आधे मग बिधु हेरि खरी सटपट परी। भागनु सग लगे मधुपन गली अँधेरि लई।"

इसमें प्रसाद-गुण की मात्रा यथेष्ट है। दोहे में माधुर्य तो ओत-प्रोत है, भाषा में छेक और वृत्त्यानुप्रास की छटा के साथ अर्थव्यक्ति-गुण का अद्भुत मेल है।

इस दोहे में अलंकारोंका भी अच्छा समावेश है। अर्थालंकार के बिना तो भारती विधवा के समान जानी जाती है। देखिए—

(१) 'सग लगे मधुपन' ने 'भागनु, (भाग्यवशात्) 'गली अँधेरि लई'। इसमें आकस्मिक कारणांतर के योग से कार्य सुगम' हुआ, अतएव समाधि अलंकार है।

(२) 'प्रतिबंधक के होत हू होय काज जेहि ठोर'—वहाँ तृतीय

विभावना अलंकार होता है। इस दोहे में भी चंद्रोदय-रूप प्रतिबंधक के रहते हुए भी अभिसार का कार्य हुआ है, अतएव यहाँ तृतीय विभावना अलंकार हुआ।

(३) 'वस्तु बिनासे हू बहुरि तरह पीछली होय'—यहाँ द्वितीय पूर्वरूप अलंकार होता। नायिका का अंधकार में जाना, मार्ग में चंद्रोदय से उस अंधकार का नष्ट हो जाना एवं भ्रमरों के द्वारा फिर उस अंधकार का वैसा ही हो जाना दोहे में वर्णित हुआ है, अतएव पूर्वरूप अलंकार हुआ।

(४) 'जतन बिना ही होत है जहँ चित-चाही बात'—वहाँ प्रथम प्रहर्षण अलंकार होता है। यहाँ यत्न न करने पर भी भ्रमरों ने गली को अंधकारमय बना दिया, जो नायिका को अभीष्ट था, अतएव प्रथम प्रहर्षण अलंकार हुआ।

(५) चंद्र-ज्योत्स्ना का गुण नायिका के परकीया होने के कारण अभिसार में दोष हुआ, अतएव प्रथम व्याघात अलंकार हुआ।

बिहारीलालजी के इस दोहे में मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' में अवज्ञा अलंकार माना है। लिखा है—"चांद्र दोष द्वारा दोष न लगने से अवज्ञा अलंकार आया (पृष्ठ ४५)।" मेरी समझ में यह इन महाशयों की भूल है। यदि चांद्र दोष से दोष न लगता, तो फिर बिहारीलालजी को—'अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि' लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। जान पड़ता है, इन्होंने दोहे का पूर्ण अर्थ समझे बिना अलंकार का नाम लिख दिया है। कुवलयानंदकार ने अवज्ञा के लक्षण को उल्लास के लक्षण के बाद लिखते हुए कहा है—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।

अर्थात् "जहाँ एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष हो, वहाँ उल्लास अलंकार है।" फिर अवज्ञा के विषय में लिखा है—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा ।

अर्थात् "अन्य के गुण-दोष से जो अन्य को गुण-दोष न हो" वह अवज्ञा है। पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने भी 'रसगंगाधर' में उल्लास का लक्षण लिखने के बाद अवज्ञा के विषय में लिखा है—'तद्विपर्ययेऽवज्ञा' अर्थात् "उल्लास के विपर्यय में अवज्ञा अलंकार है।" जैसे—

करि बेदांत विचार हू शठहिं बिराग न होय ।

अथवा—

'तुलसी' दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ।

परंतु बिहारीलालजी के दोहे में अभिसारिका नायिका को चांद्र दोष से दोष लगा है, जो उसके 'खरी सटपट परी' कथन से स्पष्ट है।

इस प्रकार कहाँ तक दिखलावें, संपूर्ण सतसई ही काव्य-कला की चरम सीमा के उदाहरण में पेश की जा सकती है। इन दस दोहों में ही पाठकों ने देखा होगा कि काव्य-कला-कुशलता की दृष्टि से महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय ही हैं। इस महाकवि का काव्य-कौशल ऐसा अनुपम है कि उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। धन्य बिहारीलालजी और धन्य उनका अप्रतिम काव्य-कौशल ।

प्रेम-वर्णन

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार ;
वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार ।

(बिहारी-सतसई)

प्रेम-तत्त्व का निरूपण करना टेढ़ी खीर है। संसार की किसी भी भाषा में प्रेम की पूरी परिभाषा नहीं मिलती। विश्व के संपूर्ण महानुभाव प्रेम की प्रशंसा के गीत गाते आए हैं। यह निर्विवाद है कि प्रेम रागात्मक मनोविकार है। मेरा अपना मत तो यह है कि चित्त की हर्ष से भरी हुई अत्यंत आसक्ति ही प्रेम है। मनोराज्य के अधिपति कलाविद् कवीश्वरों ने मानसिक जगत का रहस्य अनेक रूपों में प्रकट कर उसकी गूढ़ पहेलियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इन सभी ने संपूर्ण मनोवृत्तियों पर प्रेम-वृत्ति को ही प्रधानता दी है। संसार के अणु-अणु में व्याप्त प्रेम-रस की अमृतमयी अविरल धारा बहाना ही विश्व के महान् कवीश्वरों का एकमात्र उद्देश्य रहा है। प्रेम के विभिन्न रूपों का मनोरम, श्लाघ्य वर्णन ही श्रेष्ठतम काव्यों में पाया जाता है। महाकवि (Baily) बैली ने ठीक ही कहा है—

Poets are all who love, who feel great truths ;
And tell them, and the truth of truth is love."

अर्थात् "वे सब कवि हैं, जो प्रेम करते हैं, जो महान् सत्यों की हृदय में अनुभूति करते और उन्हें प्रकट करते हैं। वह सत्य का सत्य (परम सत्य) है प्रेम।"

इनमें भी शृंगारी कवि पर प्रेम-वर्णन की बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है। क्योंकि शृंगार प्रेममय है। शृंगार में यथार्थ प्रेम-

वर्णन ही होता। प्रेम तत्त्व की अनुभूत अभिव्यंजना ही शृंगार-रस की जान है। इसमें स्थूल, संभोग और बाह्य सौंदर्य का वर्णन उपकरण भले ही हो, परंतु प्रधानता प्रेम-भाव की सहज सुकुमार, आनंदमयी, हर्षातिरेकपूर्ण अभिव्यंजना ही की होनी चाहिए, ऐसा न हो कि स्थूल संभोग की काली मेघ-घटा में प्रेम-चंद्र ढँक जाय; और हमें उसकी उस हर्ष-चाँदनी के सुखद प्रकाश की एक धुँधली-सी किरण भी प्राप्त न हो, जिससे हृदय प्रफुल्लित होता है।

महाकवि श्री बिहारीलाल जी हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ट शृंगारी कवि हैं। आर्य-साहित्य में द्विविध शृंगार है—(१) मानुषीय शृंगार और (२) भक्ति-शृंगार। मानुषीय शृंगार में मानवीय प्रेम का वर्णन है, और भक्ति-शृंगार में ईश्वरीय प्रेम का। सतसई में इस द्विविध प्रेम का उदात्त और प्रकृष्ट वर्णन है। सतसई में मानुषीय शृंगार-रस-पूर्ण रचना में महाकवि बिहारी-लालजी का प्रधान लक्ष्य प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों का वर्णन और नूतन सौंदर्य की सृष्टि रहा है। ऐसी रचनाओं में भी सृजन-शक्ति के साथ काव्य-कला का नैपुण्य बड़ा ही हृदयहारी है। इसमें उदात्त प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों के विन्यास में कवि-कल्पना का उच्च कोटि का विकास देखकर स्तंभित होना पड़ता है। संकोच और लज्जा, अनुराग और विलास एवं गूढ़ व्यथा और अभिमान आदि को व्यक्त कर कवि-कल्पना द्वारा अमूर्त भाव को प्रत्यक्ष मूर्ति देने और केवल इने-गिने शब्दों के मनोरम विन्यास द्वारा पाठकों के अंतस्तल में एक अपूर्व भाव उदित करने में महाकवि बिहारीलालजी की रचना अप्रतिम है। इसी से वह परम प्रशंसनीय हैं। बिहारीलालजी ने प्रेम की सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है, और जीवन के अंतस्तल में प्रविष्ट होकर एक निराले सौंदर्य की सृष्टि की है। इस प्रकार के वर्णनों में यद्यपि

कल्पना, आवेश और विलास पाया जाता है, तो भी प्रेम-भाव की ऐसी सत्य और सुखद अभिव्यंजना है, जिससे हृत्तंत्री के तार झन-झना उठते हैं।

भक्ति-श्रृंगार में भक्त आत्मा भगवान् में कांत अर्थात् पति-भाव से भक्ति करती है, और अपना सर्वस्व—लोक और परलोक—भगवान् के श्री-चरणों में समर्पित करती है। इस प्रकार की भक्ति श्रीभागवत धर्म या वैष्णव-धर्म के प्रेम-मूलक भक्ति-मार्गी महान भक्तों ने की है। इसमें अशेष सौंदर्य-निधि, प्रेम-मूर्ति भगवान से मिलन ी तीव्रतम आकांक्षा होने पर प्रियतम भगवान से भावना-रूप से तदाकारता प्राप्त हो जाती है। भगवान् में यह भाव-भक्ति की तल्लीनता में उस समय होना है, जब भक्त जीवात्मा को वह दृढ़ अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है कि भोक्ता तो केवल भगवान है, और संपूर्ण चराचर भोग्य है। जब तक अपने आपमें भोग्य दृष्टि भलीभाँति न हो जाय, तब तक भगवान में भोक्ता की दृष्टि असंभव है। ऐसी भक्ति में भक्त जीवात्मा का ध्येय संभोग होता है। वह चिर-सभोग की लालसा से प्रेम-मार्ग में अवतीर्ण होता है, इस दशा में उसके रसिक हृदय में प्रेम-रस-पूर्ण जो मधुर तरंगें उठती हैं, उनमें संभोग की लालसा रहती है। एक क्षण के लिये भी द्वैत का भाव - विलग रहने का भाव—उसे असह्य हो उठता है। उसके संपूर्ण मनोविकारों में संभोग की आशा एवं विप्रलंभ की कसक ओत-प्रोत रहती है। विप्रलंभ की कसक की अनुभूति का वर्णन करता हुआ वह संभोग की लालसा से अग्रसर होता है। उसे रात-दिन उसी प्रियतम का ध्यान रहता है। इस प्रकार की भक्ति श्रीकृष्ण-भक्ति के विभिन्न संप्रदायों, रहस्यवादियों विभिन्न पंथों में एवं सूफी-मत के अनुयायियों में प्रचुरता से पाई जाती है। इन सबकी अपेक्षा श्री ागवत धर्मांतर्गत श्रीकृष्ण-भक्ति के संप्रदायों में इस प्रेम-मूलक भक्ति का चरम उत्कर्ष है। प्रेम-तत्त्व

की जैसी उदात्त अभिव्यंजना वैष्णव कवियों में पाई जाती है, वैसी संसार-साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। विस्तार-भय से यहाँ उसका निरूपण और दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। हो सका, तो मैं शीघ्र ही अपने किसी दूसरे ग्रंथ में इसका सविस्तर वर्णन उपस्थित करूँगा।

हम बिहारीलालजी के परिचय में लिख आए हैं कि वह श्रीस्वामी हरिदास की श्रीकृष्ण-भक्ति के अनन्य संप्रदाय के वैष्णव थे। इसी से इष्ट-धर्मी श्री बिहारीलालजी ने सतसई के मंगलाचरण में ही श्रीराधिकाजी की स्तुति की है। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत का यहाँ उल्लेख दुस्साध्य है, अतएव मैं यहाँ इस संप्रदाय के एक मुसलमान-वैष्णव कवि की रचना का कुछ अंश उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ। इसी से इस संप्रदाय के सिद्धांत का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा, और साथ ही यह भी स्पष्टतया विदित हो जायगा कि इस संप्रदाय के हिंदू-वैष्णव तो ठीक ही, मुसलमान-वैष्णव भी इसके सिद्धांतों से किस प्रकार परिचित थे। देखिए इस संप्रदाय के अनुयायी मुसलमान सज्जन परम वैष्णव रसरंगजी लिखते हैं—

चौदह तबक हैं या विराट में, तामें तीनो देवा ;
जेते जीव जहान तिते सब करत इन्हीं की सेवा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ मियाँ का डेरा ;
आलमीन अल्लह जहँ बैठा सबका करै निबेरा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ रमापति राजै ;
बेद कितेब कहैं ह्याँ ही लौं जागे फिर जिय लाजै।
ताके आगे ज्योति निरंजन इन सब ही को मूल ;
सप्त शून्य फिर और बताऊँ मेटौं सबको शूल।

ऊपर अक्षर ब्रह्म अपारा जाकर सकल पसारा ;
सो तो है आभास धाम का जानत जाननहारा ।
सो तो है गोलोक, अनेकन राम-कृष्ण जहँ दोई ;
करि सतसंग जाय कोउ बिरला बड़ी पहुँच जो होई ।
क्षर-अक्षर निःअक्षर छाँड़ै तजै अक्षरातीत ;
आगे हंस हिडंबर बैठ्यो सत्त सुकृत को जीत ।
ताके आगे और पुरुष है गहे आपनी टेक ;
इन सबहिन को करै सकेला रहे अकेला एक ।
हद बेहद बेहद के आगे एतौ सब कहि आए ;
कोटिन ब्रह्म प्रेम कोटिन पर जहँ कोउ गए न आए ।
ताके आगे रास-विलासी रूप-रंग अनियारा ;
रहै पास नाइब नहिं जानैं यह तो अचरज भारा ।
ह्वाँ तो देखौ रूप सुभानी ह्वाँ तो अजब तमासा ;
सखी-समूह रहैं बीचहि में जाय न कोऊ पासा ।
सो तो निधिवन राज बिराजै रंगमहल ता माहीं ;
श्रीस्वामी हरिदास बतायो कोऊ पहुँचत नाहीं ।
साँची शरण लेय स्वामी की सो तो पहुँच न पावै ;
नातरु रहै बीच हीं हिलग्यो कोटि कल्प नहिं जावै ।

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी श्रीस्वामी हरिदास के संप्रदाय के महंत श्रीनरहरिदासजी के शिष्य और माधुर्यरस-पूर्ण सखी-भाव की भक्तिवाले श्रीराधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनकी सतसई में इस प्रेम के वर्णन भी भरे पड़े हैं। सतसई के अधिकांश दोहों में इसी दिव्य ईश्वरीय प्रेम का वर्णन है। इस प्रकार के वर्णनों

में ब्रह्मानंद के प्रति तीव्र संवेग की स्पष्टता और कर्म-ज्ञान एवं उपासना का श्रीकृष्ण-भक्ति में अद्भुत, अभिन्न सामंजस्य है। हमारे अनेक विद्वान आलोचकों ने इस रहस्यमय वर्णन को समझने में भूल की है। इसका कारण यह है कि इनके रचयिता परम वैष्णव भक्त कवि लोक-परलोक से परे केवल प्रेमानंद का वर्णन करने में तल्लीन रहते हैं। उन्हें लोक-रक्षा, लौकिक मर्यादा से कोई संबंध ही नहीं रहा। उनका वर्णनीय कृष्ण-गोपी-प्रेम भक्त के भावना-लोक का वर्णन है। उसमें लौकिकता को गुंजाइश नहीं है। इनका एकांत उद्देश्य परब्रह्म श्रीकृष्ण और ब्रजगोपियों विशेषकर ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिका को लेकर प्रेम-तत्त्व की विस्तृत अभिव्यंजना-मात्र है। इन रचनाओं में श्रीकृष्ण के लोक-पक्ष का समावेश नहीं है। यथार्थ में ऐसे वर्णनों में तो माधुर्य-पूर्ण प्रेम-भक्ति का ही वर्णन रहता है।

ध्यान रहे, आर्य-साहित्य में भक्ति के प्रधान आचार्य देवर्षि नारद ने प्रेम-मूलक चूड़ांत भक्ति का आदर्श ब्रजगोपियों ही को ठहराया है। लिखा है—"यथा ब्रजगोपिकानाम्"। परमहंस श्रीशुकदेवजी का मत है—

नेयं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया ;
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् "विमुक्ति देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण से जिस कृपा (प्रसाद) को गोपियों ने प्राप्त किया था, उसे न ब्रह्मा, न शंकर और न उन हरि के वामांग में निरंतर वास करनेवाली लक्ष्मी ही प्राप्त कर सकीं।"

भक्ति-शास्त्र के अनुसार ये ही ब्रज-गोपिकाएँ भक्ति का चूड़ांत आदर्श हैं। और, इनमें भी राधिका का प्रेम तो इस मधुर गोपी-

प्रेम का चूड़ांत निदर्शन है। इनकी चरण-रज को प्राप्त करने के हेतु ब्रह्मादिक देवता भी लालायित रहते हैं। भक्ति के चरम आदर्श गोपी-प्रेम को समझने के लिये इस अशुद्ध एवं अन्नमय देह और इंद्रियों तथा वासनामय अंतःकरण को विकसित करना पड़ेगा। इनके बहुत ऊपर उठकर शुद्ध भाव से भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु संपूर्णतया आनंद-घन भगवान की शरण लेनी पड़ेगी। इस प्रकार जब विशुद्ध अंतःकरण में प्रेममय इंद्रियाँ और शरीर नूतन उत्पन्न हों, और प्रेममय जगत् में विहरण करें, तब कहीं गोपियों के विशुद्ध प्रेम को समझने की सामर्थ्य हो सकती है। गोपियों के प्रेम में लौकिकता के साथ अलौकिक भक्ति का अद्भुत अभिन्न सामंजस्य है। उनकी उद्दाम चित्त-वृत्ति में प्रेम-भक्ति और वासना का संगम हुआ है। कांत-भाव की भक्ति करनेवाली गोपिकाओं के मनोभावों में इन तीनो की प्रधानता है, इसी से वे कृष्ण लीलामयी और कृष्ण-विलासिनी थीं। उनके श्रीकृष्ण अनादि, अनत, सर्वांतर्यामी एवं सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारक होते हुए भी उनके लिये यशोदा के पुत्र, ग्वालों के सखा और गोपी-जन-वल्लभ हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण में मनुष्यत्व और देवत्व को पृथक करके नहीं देखा है। वृंदावन के गोपीजन-प्रिय श्रीकृष्ण के अलौकिक में लौकिक जिस मधुर रूप को लेकर इस प्रकार की भक्ति-शृंगारमयी रचनाएँ की गई हैं, उनमें हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। इसमें लोक-पक्ष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा है, और उस सौंदर्य और प्रेम के निधान सच्चिदानंद के आगे प्रायः शील और संकोच को न्योछावर कर दिया है। इसी से महान् आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण भक्ति-शृंगार की शाखा के भक्त कवीश्वरों ने अपने भगवत्-प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक,

स्थूल दृष्टि रखनेवाले जीवों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसी से मलिन-हृदय, विषयांध लोगों ने इस रचना में विषय की प्रधानता समझने का भ्रम किया है। महान् भक्त वैष्णव कवि भगवत्-रसिक, जो बिहारीलालजी के समान ही श्रीस्वामी हरिदास के संप्रदाय के अनन्य वैष्णव थे, इसी को लक्ष्य कर लिखते हैं—

यह रस-रीति प्रिया - प्रियतम की, दिव्य दृष्टि जल जैसे री ;
विषयी, ज्ञानी, भक्त, उपासक, प्राप्त सबनको तैसे री।
कदली - खंभ, पपीहा, सीपी, स्वाति-बूँद जल जैसे री ;
'भगवत' कछू विषमता नाहीं भूमि भाग्य फल तसे री।

इस प्रकार की रचना में माखन-चोरी, दान-लीला, चीर-हरण, रास, होरी, मान एवं विरह और उद्धव-गोपी-संवाद के वर्णन प्रमुख हैं। इसमें ब्रज-गोपियों विशेषकर श्री राधा को प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न नायिकाओं के रूप में चित्रित किया है। बिहारी-सतसई में श्रीराधा-कृष्ण के इसी अलौकिक में लौकिक प्रेम के चित्र अधिकता से अंकित हैं, जिनमें परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरित्र द्वारा मानव-जीवन के प्रेममय संपूर्ण भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इसी संप्रदाय के सिद्धांतानुसार परब्रह्म में तल्लीन होने के पूर्व भक्त जीवात्मा की परकीया दशा मानकर बिहारीलालजी ने परकीया का उत्तम वर्णन किया है। इसमें आचार्यों ने सर्वोत्कृष्ट प्रेम सिद्ध किया है, और 'रसस्तु परकीया, की घोषणा की है।

इस द्विविध प्रेम के वर्णन में महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने उत्कृष्ट प्रेम-भाव की अनोखी अवस्थाओं के साथ जिस उत्कृष्ट काव्य-कला का अद्भुत सामंजस्य दिखलाया है, वह अप्रतिम ही है।

(१) रति स्थायी भाववाले शृंगार को साहित्याचार्यों ने दो

भागों में विभक्त किया है। प्रथम संयोग-शृंगार और द्वितीय वियोग शृंगार। रति में संयोग-काल के अविच्छिन्न में प्रथम अर्थात संयोग-शृंगार है। परंतु संयोग केवल दंपति के सामान्याधिकरण्य में या एक शय्या पर शयन करने में ही नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में भी मान के समय संयोग न होकर वियोग-शृंगार ही होगा। इसी प्रकार वियोग-काल के अविच्छिन्नत्व में वियोग-शृंगार है, परंतु उपर्युक्त कारण से वियोग भी केवल विदेश-गमन में न होकर मिलन में भी हो सकता है।

यथार्थ में संयोग या वियोग-शृंगार चित्त की वृत्ति पर ही निर्भर है। मान को वियोग-शृंगार के अंतर्गत मानने का भी प्राचीन आर्य-साहित्य के आचार्यों ने यही कारण निर्देश किया है। विरह में संयोग-शृंगार मानने से अनेक लोगों को आश्चर्य हो सकता है, पर इसमें शंका करने की कोई बात नहीं। जिस प्रकार संयोग-काल में मान वियोग-शृंगार माना जाता है, उसी प्रकार विरह में मन-संभोग में संयोग-शृंगार मानना पड़ेगा। विरह में संयोग-शृंगार प्रेम की अथवा लगन की पूर्णता में ही संभव है। इसका वर्णन भाषाओं के भाल की बिंदी हिंदी के शृंगारी कवियों के मौलि-मुकुटमणि महाकवि बिहारीलालजी ने बड़ा ही अपूर्व किया है। लिखते हैं—

ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिन-राति ;
पल कंपति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति।

उत्तमा पतिव्रता प्रेमिका अपने प्राणपति को ध्यान के द्वारा अपने निकट बुला लेती है। ध्यान करने से उसके प्रियतम की मूर्ति उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है, ध्यान द्वारा निकट बुलाई हुई प्रियत्तम की उस मूर्ति के दर्शन से उसे सात्त्विक, कायिक अनुभाव होते हैं। वह क्षण-क्षण में पुलकती और पसीजती है, एवं

क्षण-क्षण में उसे कंप भी होता है। जिसे मनुष्य अधिक चाहता है, जिस पर उसे अत्यंत प्रेम है, जिसके दर्शन की उत्कट अभिलाषा मनुष्य के हृदय में सदैव बनी रहती है, जिसे कलेजा चीरकर हृदय के सिंहासन पर बैठाने की इच्छा रहती है, उसके दर्शनों से कंप, रोमांच तथा स्वेद-प्रवाह का होना कितना स्वाभाविक है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने प्रेम किया है—प्रेम के देवता का पवित्र प्रसाद प्राप्त किया है। फिर केवल ध्यान-दर्शन से प्रत्यक्ष दर्शन के समान ही जिसे सात्त्विक होता है, उसके प्रेम का क्या ठिकाना! फिर वह भी घड़ी-दो घड़ी के लिये नहीं—घंटे-दो घंटे के लिये नहीं, दिन और रात। प्रेम की पराकाष्ठा है—चरम सीमा है। धन्य है ऐसी पतिपरायणा नारी को, और धन्य है ऐसे आदर्श प्रेम के वर्णन करनेवाले महाकवि बिहारीलालजी को! महर्षि नारद ने भक्ति-सूत्र में एक स्मरणाशक्तिनामक भेद माना है बिहारीलालजी का यह दोहा स्मरणाशक्ति का अच्छा उदाहरण है।

(२) प्रेमी मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता। उसकी दृष्टि में वह भी तुच्छ है। बात तो यह है कि प्रेमी के पैरों पर लक्ष्मी लोटती है—मुक्ति उसके पीछे नाचती है। प्रेमी बिहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन ;
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।

प्रेम के सार-तत्त्व को समझनेवाले प्रेमी-प्रवर महाकवि बिहारीलालजी ने इस दोहे में बड़ा ही उत्कृष्ट प्रेम-वर्णन किया है। भक्ति-मार्ग और प्रेम की उत्कृष्टता का यह दोहा बढ़िया उदाहरण है। कैसे अनूठे ढंग से कहा है—

"जो मुक्ति प्रियतम से मिलने की युक्ति नहीं है, यदि उससे प्रियतम का मिलन नहीं है, तो उस मुक्ति के मुख पर धूल डालो। वह मुक्ति किस काम की? यदि 'सजन' का संग हो—प्रियतम का साथ हो—तो नरक में प्रवेश करना भी इस प्रेमी के लिये श्रेयस्कर

है। नरक में स्वर्ग से बढ़कर आनंद है, केवल प्रेम-पात्र पास हो।"

इस दोहे में मुक्ति को सजीव प्राणी के समान वर्णन करके उसके मुख पर भक्ति या प्रेम के आवेश में, बड़ी खूबी से, विदग्धता से, धूलि डलवाई गई है। जब ऐसा हो, तभी उत्कृष्ट प्रेम कहा जा सकता है।

हिंदी-कवि-कुल-कुमुद-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने ऐसा ही भाव व्यक्त करते हुए अपने जगत्-प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण में कहा है—

> अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान ;
> जन्म-जन्म रति राम-पद, यह बरदान न आन।

यद्यपि महात्मा तुलसीदासजी के दोहे में भक्ति की स्पष्टता होने से अधिक पवित्रता विदित होती है, परंतु इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रेम की प्रखरता नहीं है, यह स्पष्ट है।

कविवर रहीम कहते हैं—

> काह करौं बैकुंठ लै, कल्पवृच्छ की छाँहँ ;
> रहिमन ढाँक सुहावनौ; जो प्रीतम-गल-बाँहँ।
> (अहमद या रहीम)

रहीम के दोहे में यद्यपि प्रेम का भाव बहुत ऊँचा है, परंतु वह भी 'जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कौन।' के भाव से बहुत नीचा है। 'ढाँक की छाँहँ' और 'धरक हू कौन' में बहुत अंतर है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

> स्वर्ग नर्क अपवर्ग में कै चौरासी माँहिं ;
> रहूँ जहाँ निज कर्म-बस, छुटै कृष्ण-रति नाँहिं।

इस दोहे में यद्यपि रहीम के दोहे से अधिक प्रेम है एवं तुलसी-

दासजी के दोहे के समान भक्ति की पवित्रता है, परंतु इसमें लापर-वाही है। ये कहीं भी रहना पसंद करते हैं। यदि प्रियतम के साथ स्वर्ग में रहें, तो इसमें क्या? अपवर्ग में रहने से भी क्या? हाँ चौरासी और नरक में रहना सचमुच उत्कृष्ट प्रेम का द्योतक है। इसमें बाबू हरिश्चंद्र ने यह नहीं लिखा कि वह नरक में सुख से रहेंगे या नहीं। दुख से भी नरक भोगा जा सकता है। इनके दोहे में इन्हें कर्म की शिकायत है। बिहारीलालजी का दोहा इनसे श्रेष्ठ है। बिहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन ;
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।

यहाँ निर्भर होकर स्वयं प्रसन्नता से, कर्म-वश से नहीं, अपनी मर्जी से प्रियतम के साथ नरक में जाने के लिये कमर कसे तैयार बैठे हैं। प्रेम की पराकाष्ठा का चित्र बिहारीलालजी के दोहे में ही सर्वोत्कृष्ट कुशलता से अंकित हुआ है, एवं प्रेम की तल्लीनता तथा प्रेमावेश बिहारीलालजी के दोहे में अधिक है।

(३) प्रेम में प्रेम-पात्र को मन-समर्पण करने का सतसई में अनूठा वर्णन है। देखिए—

कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ ;
उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।
(बिहारी-सतसई)

प्रेमिका नायिका कहती है—"हे नायक! क्या हुआ, जो तुम बिछुड़ गए? वियोग तो मन का मन से विच्छेद होने में है। सो मेरे मन का तुम्हारे मन से विच्छेद हो ही नहीं सकता। मैंने अपने मन की पतंग को डोरी से बाँधकर तुम्हारे मन के हाथ सौंप दिया है। मेरा मन तो तुम्हारे मन की मर्जी पर ही उड़ेगा। जब तक प्रेम की डोर बँधी है, तब तक तुम्हारे विलग रहने पर भी मेरा

मन तुम्हारे मन ही के साथ है। पतंग कहीं भी उड़े—कितनी ही दूर आकाश में उड़े, परंतु जब तक वह डोर से बँधी है, तब तक उड़ानेवाले ही के हाथ है।"

इस दोहे में प्रेम-डोर के बँधने में प्रेम का आकर्षण अच्छा व्यक्त हुआ है। कथन का ढंग बड़ा ही सुहावना एवं चित्ताकर्षक है। भाषा भाव के बहुत ही अनुकूल है। दृष्टांतालंकार की छटा सोने में सुगंध के समान है। इसके अतिरिक्त वर्णन-शैली का बाँकपन अवर्णनीय है। कथन में लापरवाही के साथ-साथ दृढ़ता का समावेश अनूठा है।

इसी प्रकार का निम्न-लिखित दोहा भी है, जिसमें प्रेमिका संदेश-वाहक के हाथ में प्रियतम के नाम प्रेम-पत्र देकर कहती है—

कागद पर लिखत न बनत, कहति सँदेस लजाति ;
कहिहै सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात।
(बिहारी-सतसई)

इसमें दांपत्य प्रेम की दृढ़ता और एक दूसरे के दृढ़ प्रेम के विश्वास का आधिक्य होने से प्रेम का अधिक प्राबल्य है।

(४) महर्षि नारद भक्ति-सूत्र में लिखते हैं—

"तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति।"

अर्थात "प्रेमी प्रेम-पात्र के प्रेम को प्राप्त कर सर्वत्र उसी को देखता है, उसी के विषय में श्रवण करता है, और उसी का चिंतन भी करता है।"

महाकवि बिहारीलालजी ने अपने निम्न-लिखित दोहों में इसी प्रकार के प्रेम के प्रकृष्ट उदाहरण दिए हैं। देखिए, 'तदेव शृणोति' के विषय में लिखते हैं—

लई सौंहँ-सी सुनन की, तजि मुरली धुनि-आन ;
किए रहति है रात-दिन, कानन लागे कान ।
(बिहारी-सतसई)

'तदेव चिन्तयति' के विषय में लिखते हैं—

प्रेम अडोल डुलै नहीं, मुख बोले अनखाय ;
चित्त उनकी मूरति बसी, चितवन माँहिं लखाय ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का भाव बड़ा ही मनोहारी है। किसी नायिका के हृदय-पटल पर उसके प्रियतम की मूर्ति अंकित हो गई है। वह उसे ही प्रियतम जानकर उसके दर्शन करते-करते ध्यानावस्थित योगी की तरह (अडोल) अचल हो रही है। हृदय-ही-हृदय में वह उसी प्रेम-प्रतिमा से काल्पनिक बातचीत कर रही। यदि कोई सखी उससे इस समय कुछ बोलती है, तो उसकी ध्यानतन्मयता में विघ्न पड़ने के कारण वह उससे अनखती है—रुष्ट होती है। उसके हृदय-देश में बसी हुई प्रियतम की मूर्ति की आभा नेत्रों में झलकती है।

'तदेवालोकयति' के विषय में लिखते हैं—

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ;
बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होइ ।
(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रेमी को प्रेम-पात्र के सर्वत्र दिखाई देने का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन है। इस दोहे में भक्ति की अनन्यता के साथ-साथ एकेश्वरवाद के दार्शनिक सिद्धांत की भी अनुपम झलक है।

(५) प्रेम कैसा होना चाहिए, इसके विषय में महाकवि बिहारीलालजी का मत है—

चित दै देखु चकोर ज्यों तीजे भजै न भूख ;
चिनगी चुगै अँगार की, पियै कि चंद-मयूख ।
(बिहारी-सतसई)

यदि प्रीति करना है, तो चकोर के समान चित्त देकर देख। या तो चकोर चंद्रमा की किरणों की सुधा-पान करता है या अंगार की चिनगारियाँ चुगता है। तीसरे किसी प्रकार से उसकी भूख मिटती ही नहीं। इसी प्रकार जो प्रेमी या तो अपने हृदयाराध्य प्रियतम के चंद्रमुख की रूप-सुधा से आनंद मनाता है, या अपने प्रियतम के विरह में—विरहाग्नि में शरीर दग्ध करता है, परंतु तीसरे किसी प्रकार से आनंद मनाने का इच्छुक नहीं होता, उसी का प्रेम यथार्थ प्रेम है। इसमें प्रियतम के सिवा प्रेमी को कोई भी प्रसन्न करने में समर्थ नहीं है। प्रियतम के चरणों में प्रेमी अपने संपूर्ण स्वार्थों और सुखों को किस प्रकार अर्पण करता है, यह चकोर के प्रेम में देखिए। महाकवि बिहारीलालजी ने इस दोहे में प्रेम का सच्चा आदर्श दिखला दिया है। इसमें प्रेमी बदला नहीं चाहता।

(६) जो प्रेम-मार्ग प्रेमियों को बड़ा कठिन दिखाई देता है, उसे ही मूर्ख पुरुष सरल पथ समझते हैं। जहाँ हजारों रसिक डूब गए, हजारों प्रेमियों ने जिस मार्ग का ओर-छोर न पाया, उसी मार्ग को—उसी प्रेम-मार्ग को लाँघना दुर्बल-हृदय मूर्खों को एक साधारण-सी बात समझ पड़ती है। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहा हजार ;
वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार।
(बिहारी-सतसई)

जिस प्रेम-पयोधि में रसिक प्रेमियों के पर्वत से भी ऊँचे और विशाल हृदय एक-दो नहीं, हजारों की संख्या में डूब गए, उसी प्रेम-पयोधि को—उसी अथाह प्रेम-सागर को पशु के समान हीन-

बुद्धि तथा तुच्छ और क्षुद्र हृदयवाले मनुष्य 'पगार' समझते हैं।

'पगार' उस छोटे जलाशय को कहते हैं, जिसमें घुटने तक पानी रहता है और जसे पाँव-पाँव चलकर पार कर सकते हैं।

इस दोहे में 'रसिक-मन' को 'गिरि तैं ऊँचे' लिखने में मन का अचल-अटल रहना व्यंजित होता है, जिससे प्रेम की दृढ़ता जानी जाती है। 'पसु-नरन' में 'पाशविक स्थूल-संभोग' के इच्छुक विषयी लोगों से तात्पर्य है, जो प्रेम के आध्यात्मिक भाव को समझने में सर्वथा असमर्थ हैं। वे केवल पाशविक विषय-लोलुपता को ही प्रेम समझते हैं, अतएव उन्हें प्रेम-मार्ग कुछ भी कठिन नहीं जान पड़ता पर जो सच्चे प्रेमी हैं, वे प्रेम की कठिनता को खूब ही जानते हैं।

'रसनिधि' कहते हैं—

> असनेही जानें कहा नेही-मन-अनुराग ;
> कहुँ हंसन की चाल को चल जानत हैं काग।
>
> (रतनहजारा)

प्रेम-हीन हृदयवाले मनुष्य क्या प्रेमियों के हृदय के अनुराग को कभी जान सकते हैं? कहीं कौआ भी हंस की चाल चलना जान सकता है?

कबीरदासजी ने भी कहा है—

> यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ;
> सीस उतारै भौं धरै, सो पैठे इहि माहिं।

कहना यह होगा कि बिहारीलालजी का दोहा साहित्याकाश का एक परमोज्ज्वल नक्षत्र है। इस दोहे की भाव-गंभीरता एवं कवित्व-कमनीयता विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती है।

(७) एक प्राण, दो देह के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

उनको हित उनहीं बनैं, कोई करो अनेक ;
फिरत काक-गोलक भयो दुहूँ देह ज्यों एक ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में 'प्राण' का उल्लेख न करके बिहारीलालजी ने न्यून-पद-दोष किया है, परंतु फिर भी जिस प्रकार कलंकी चंद्रमा सुंदर होता है, उसी प्रकार यह भी सुंदर है। प्रेम की पराकाष्ठा का इस दोहे में चित्र-सा खिंच गया है। दृष्टांत भी बड़े मार्के का है। यह जन-श्रुति है कि कौवे की एक ही आँख में तिल होता है। वही एक तिल दोनों आखों के गटेनों में घूमता है। इसी से वह दोनों आँखों से देख सकता है। काना नहीं कहा जा सकता। यही अवस्था नायक और नायिका के दोनों शरीरों की है। उन दोनों के शरीरों में एक ही जीव है, अर्थात् वे एक प्राण, दो देह हैं। कितना उत्कृष्ट प्रेम है।

तत्त्वदर्शी महात्मा कबीरदासजी ने भी कहा है—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(८) मध्या नायिका के प्रेम की अवस्था का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी कहते हैं—

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति ;
जक न परत चकई भई, फिर आवति फिर जाति ।
(बिहारी-सतसई)

नायिका यहाँ से वहाँ जाती है, और वहाँ से यहाँ आती है। वह कहीं एक क्षण-भर के लिये भी नहीं ठहरती। उसे 'जक' पड़ती ही नहीं। प्रेम में शांति कहाँ ? जिस प्रकार डोर में बँधी हुई चकरी किसी के द्वारा फिराई जाने पर यहाँ से वहाँ आती-जाती रहती है, उसी प्रकार प्रेम की डोर से बँधी हुई नायिका विरह के द्वारा घुमाई

जाने से फिर-फिर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ आती-जाती रहती है। उसे शांति मिलती ही नहीं।

(९) मित्र प्रेम का वर्णन देख लीजिए। दो सन्मित्रों की प्रीति देखकर दुष्ट लोग उस प्रेम में बाधक बन जाते हैं; परंतु यदि मित्र सच्चे हैं, उनकी प्रीति सच्ची है, तो दुष्टों के बाधा पहुँचाने पर भी उसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता, वह यथावत् बनी रहती है। इसी बात को विशेषोक्ति में बढ़ई, कुल्हाड़ी और वृत्त का रूपक बाँधते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

खल बढ़ई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार ;
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु डार।

(बिहारी-सतसई)

काटने से प्रीति घटती नहीं, वरन् और-और बढ़ती जाती है। बिहारीलालजी कहते हैं—

करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत ;
आलबाल उर प्रेम-तरु तितौ-तितौ दृढ़ होत।

(बिहारी-सतसई)

(१०) प्रेम करने में अपने प्राणों को प्रेम-पात्र के हाथ में सौंप देना पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी ने किसी से नायिका के प्रति कहलवाया है—

मन न धरति मेरो कहो, तू आपने सयान ;
अहे परनि पर प्रेम की पर-हथ पारन प्रान।

(बिहारी-सतसई)

(११) प्रेमी प्रेमिका को प्रेम के चिह्न-स्वरूप 'मुँदरी' की भेंट देता है। मुँदरी प्राप्त कर प्रेमिका की कैसी स्थिति होती है, इस बात का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

छला छबीले छैल को नवल नेह लहि नारि ;
चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, धरति उतारि ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भी प्रेम की अवस्था का अच्छा खाका खींचा गया है। 'नवल नेह' में 'छबीले छैल' का 'छला' प्राप्त करके प्रेमिका नारी उसे (छला को) चूमती है, उसे प्यार करती है, उसे हृदय से लगाती है, फिर पहनती है। पहनने से कहीं मैला न हो जाय, प्राणपति का दिया हुआ प्रेम-प्रसाद है, इसे उज्ज्वल रखना—प्राणों से अधिक सुव्यवस्थित और सुरक्षित रखना मेरा धर्म है, यह सोचकर वह उस छल्ले को उतारकर रख देती है। प्रेम का कैसा सजीव वर्णन है। काव्य-प्रतिभा की पराकाष्ठा है। नायिका का चित्र बरबस नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हम सिनेमा के समान नायिका का नवल नेह में पड़ना, उसमें छबीले छैल से छल्ले की प्राप्ति, फिर उस छल्ले को नायिका जिस प्रकार 'चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, उतारि' आदि-आदि सभी देखते हैं।

(१२) जिस प्रकार स्वकीय प्रेम के वर्णन में बिहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई है, उसी प्रकार परकीय प्रेम के वर्णन में भी वह बाजी मार ले गए हैं। महाकवि ही ऐसी अनूठी रचना करने में समर्थ हो सकते हैं। देखिए, कोई परकीया नायिका सखी द्वारा परकीय प्रेम-सम्बन्धी नीच-ऊँच समझाई जाने पर उस सखी से कहती है—

कीन्हें हू कोटिक जतन, अब गहि काढ़े कौन ;
भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन ।
(बिहारी-सतसई)

'हे सखी, तेरा समझाना-बुझाना सब व्यर्थ है। करोड़ों यत्न करने पर भी अब ऐसा कोई भी समर्थ नहीं, जो मेरे मन-रूपी

नमक को मोहन के रूप-सिंधु से निकाल सके। भला, तू सोच तो कि कहीं अपार पानी में घुला हुआ नमक भी निकल सकता है। मेरा मन मोहन के प्रेम में डूब गया है, तू मुझे व्यर्थ शिक्षा देकर अपना समय नष्ट न कर। जा, अपना काम देख।

इस भाव पर अनेक प्रसिद्ध कवियों ने काव्य-रचना की, बहुत सिर खपाया, पर बिहारीलालजी के इस दोहे के भाव का 'लह्यो न आधौ आध'। देखिए—

पहले देव कवि को ही लीजिए। लिखते हैं—

बोरयो बंस बिरद में बौरी भई बरजति,
मेरे बार-बार बीर कोई पास बैठो जनि ;
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन में छाँड़ो मोसों मौंहन उमेठो जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि,
'देव' तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौं तो
बैठी हौं बिकल कोइ मोहिं मिलि बैठो जनि *।

---

* संभवतः देव ने यह छंद 'रसखानजी' के निम्न लिखित सवैया को देखकर बनाया है। इसे देखिए—

तुम चाहे जो कोउ कहो, हम तो
नँदवारे के संग ठई सो ठई
तुम ही कुल बीनी प्रबीनी सबै
हमहीं कुल छाँड़ गई सो गई।
'रसखानि' यो प्रीति की रीति नई
जु कलंक की मोटैं लई सो लई ;
इहि गाँव के बासी हँसैं सो हँसैं,
हम श्याम की दासी भई सो भई।

परकीया नायिका की परकीय प्रेम के कारण कई जगह निंदा हो रही थी। दूसरों के मुख से उसकी बड़ी निंदा सुनकर उसकी एक सखी प्रेम-वश उसे समझाने आई। ज्यों ही वह समझाने लगी, त्यों ही नायिका ने उसे झिड़कते हुए एकदम कहा—"कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि।" इससे स्पष्ट है कि वह ग्रामीणा है। बिहारीलालजी के दोहे की नायिका के समान नागरी नहीं है। बातचीत का ढंग तक वह जानती नहीं। गँवारी के समान 'बोर्‌यो बस...... ...' आदि कह डालती है। फिर 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' में जो भाव है, देव के कवित्त में स्वप्न में भी नहीं। उस भावोत्कृष्टता तक स्वप्न में भी नहीं पहुँचते।

देव से कई गुना श्रेष्ठ वर्णन ठाकुर के निम्नलिखित छंद में है। नायिका परकीय प्रेम में पड़ने पर सखियों के तानों से तंग आकर कहती है—

हम तो पर-नारि भईं सो भईं,
तुम तो सुधरो सखियाँ सिगरी;
यह रीति चले जग नाम धरे,
तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री।
कवि 'ठाकुर' फाटी उलंक की चादर,
दैउँ कहो कहँ लौं थिगरी;
तुम आपुनी ओर बचाव करो,
हम तो बन के बिगरी बिगरी।

कविवर ठाकुर का यह छंद देव के छंद से श्रेष्ठ है। देव के समान—'कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर........' आदि ग्रामीणता-सूचक शब्द ठाकुर के छंद में नहीं हैं। 'हम तो पर-नारि भईं सो भईं' में ही ठाकुर ने देव के छंद का आधे से अधिक वर्णन भर

दिया है। ठाकुर के छंद की नायिका में नागरीत्व भी पाया जाता है। उसमें बातचीत करने की योग्यता भी है। फिर जो बात ठाकुर के 'यह रीति चले जग नाम धरे तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री' में है, वह 'देव तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौं तो बैठी हों बिकल कोइ मोहिं मिलि बैठो जनि' में कभी है ही नहीं। 'मोहिं मिलि बैठो जनि' से 'न कढ़ौ मग मो ढिग री' बहुत श्रेष्ठ है। कहाँ मिलकर पास बैठने की मनाही और कहाँ मग में ढिग (पास) से निकलने की मनाही। आकाश-पाताल का अंतर है। कहना न होगा कि देव का वर्णन ठाकुर के वर्णन से बहुत नीचा है। पर ठाकुर का यह वर्णन भी बिहारीलालजी के 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' के भाव नहीं पहुँचता। उसमें जो तदाकारता है, वह ठाकुर के छंद में कहाँ?

शंभु कवि की उक्ति भी देखिए। नायिका शिक्षा देनेवाली सखी से कहती है—

नलिनी रबि मध्य को आड़ करै,
जुग फूटे जुराफा उड़ावहि को;
मन चुंबक बीच को लोह भयो,
तहँ दूसरो रूप दिखावहि को।
कवि 'संभु' सनेह की रीति यही,
बिछुरे जल मीन जियावहि को;
गुनवारे गुपाल की आँखिन सों,
अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को।

कवि शंभुजी का यह वर्णन देव, रसखान और ठाकुर, तीनो के वर्णनों से श्रेष्ठ है। 'गुनवारे गुपाल की आँखिन सों अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को' में एक नई बात है। 'आँखों का उलझना' हिंदी-भाषा का मुहाविरा है, जिसका अर्थ प्रेम में फँसना होता है। एवं 'गुनवारे' में गुण और रस्सीवाले. दोनो अर्थ निकलते हैं—

प्रेम में फँसना और गुणवाले गोपाल के। यह बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा गया। साथ-साथ रवि और नलिनी, लोह और चुंबक तथा जल और मीन की स्नेह-रीति का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। पर इसमें भी बिहारीलालजी के 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' वाली बात नहीं है। वैसी तदाकारता का वर्णन इनसे भी न हो सका।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी एक ऐसी ही उक्ति कही है। परकीया नायिका सिखापन देनेवाली सखी से कहती है—

वह सुंदर रूप बिलोकि सखी,
मन हाथ सों मेरे भग्यो सो भग्यो।
चित माधुरी मूरति देखत ही,
'हरिचंद' जू जाय पग्यो सो पग्यो ;
मुहिं औरन सो कछु काम नहीं,
अब तो जो कलंक लग्यो सो लग्यो ;
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं,
अलि, साँवरे रंग रँग्यो सो रँग्यो*।

* भारतेंदुजी का यह छंद ठाकुर कवि के निम्न-लिखित उत्कृष्ट सवैए का अपहरण-मात्र है। देखिए—

जब तें दरसे मनमोहन जू,
तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं ;
कुल-कानि गई सखि वाहि घरी,
जब प्रेम के फंद पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नेह के नेजन की,
उर में अनी आनि खगीं सो खगीं ;
तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरो,
हम साँवरे-रंग रँगीं सो रँगीं।

इस सवैया की नायिका में नागरीत्व यथेष्ट है। वर्णन में स्वाभाविकता की मात्रा विशेष है। अंतिम पंक्ति बहुत ही भाव-पूर्ण है। 'साँवरे-रंग रँग्यो मो रँग्यो' में भाव की गंभीरता है। साँवरे रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। चित्त में श्याम का प्रेम-रंग चढ़ गया है। इसमें भी प्रेम की उत्कृष्टता है, पर 'पानी में को लौन' हो जाने में प्रेम-वृत्ति की जैसी लवलीनता और तदाकारता है, वैसी इसमें भी नहीं है।

इसी प्रकार अनेक कवियों के वर्णन हैं, जिन्हें मैं विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ, पर इतना अवश्य है कि उनमें से कोई भी बिहारीलालजी के इस दोहे की समता नहीं कर सकता।

(१३) यह सभी जानते हैं कि सौंदर्य में आकर्षण है। ब्रह्म भी 'सुंदर' है। कला केवल सौंदर्य का ही तो निदर्शन करती है। सुंदरता में कुछ ऐसा जादू है, जो बरबस मोह लेता है।

सौंदर्य-जन्य प्रेम का वर्णन विश्व के सभी महाकवियों ने किया है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी इसका अनूठा वर्णन किया है। दो उदाहरण देखिए—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-बिपाक;
छिन छाकै उछकै न फिरि, खरौ बिषम छबि-छाक।

(बिहारी-सतसई)

सौंदर्य-जन्य प्रेम का मद (नशा) बड़ा ही विषम है। अन्य नशे डर से उतर जाते हैं, पर इसका नशा डर से भी नहीं उतरता। अन्य नशों में नींद आ जाती है, पर इसमें 'नींद न परै' नींद सदा के लिए भाग जाती है। काल-बिपाक भी इसका हरण नहीं करता, अर्थात् जिस प्रकार अन्य नशों का असर कुछ समय व्यतीत होने पर स्वयमेव चला जाता है, वैसा सौंदर्य-मद का असर नहीं चला जाता। जब तक वह सौंदर्य है, उस सुंदरता की मूर्ति

है, तब तक उसका प्रभाव कभी नष्ट नहीं होता। सौंदर्य-मद जहाँ एक बार चढ़ा, फिर क्षण-भर के लिये भी नहीं उतरता। प्रेम के नशे में और अन्य नशों में यही विषमता है। व्यतिरेकालंकार का यह दोहा बहुत ही श्रेष्ठ उदाहरण है।

(१४) चित्त की नौका को 'अंग-अंग छबि-झौंर' के भँवर में किस प्रकार फँसाया है, उसे भी बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे में देखिए—

फिर-फिर चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग छबि-झौंर में भयो भौंर की नाव।

(बिहारी-सतसई)

प्रेम-पात्र के अंग-अंग की छबि 'झौंर' में प्रेमी का चित्त भँवर की नाव बना हुआ फिर-फिरकर उसी (प्रेम-पात्र की) ओर रहता है। अन्य किसी ओर नहीं जाता, क्योंकि उसे प्रेम-पात्र की ओर से खींचनेवाली लाज की (लाव) रस्सी टूट गई है। इस दोहे के रूपक में 'अंग-अंग छबि-झौंर' बहुत भारी और चक्करदार भँवर आ पड़ा है, जिसमें पड़ने से लाज की मजबूत लाव भी टूट चुकी है। अब उसमें से चित्त-रूपिणी नौका का निकालना हो ही नहीं सकता।

(१५) तत्त्वदर्शी महाकवि बिहारीलालजी ने सौंदर्य ने विषय में जो विचार किया है, उसे भी देख लीजिए; क्योंकि उसी के अनुसार तो सौंदर्य-प्रेम का वर्णन है। सुंदरता का निदर्शन परम दार्शनिक कवि के सिवा और कर ही कौन सकता है? जब परमात्मा का रूप ही 'सत्यं शिवं सुन्दरं' मान लिया, और जब यह मान चुके की समग्र सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस परमात्मा की ज्योति है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' या 'सर्वं विष्णुमयं जगत' है, तब असुंदर कह ही किसे सकते हैं। और, फिर सुंदरता की कोई परिभाषा भी तो नहीं बनाई जा सकती। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

समै-समै सुंदर सबै रूप कुरूप न कोय ;
मन की रुचि जेती जितै, तितै तिती छबि होय ।
(बिहारी-सतसई)

समय-समय पर सब सुंदर हैं, रूपवान् और कुरूप कोई नहीं। मन की जहाँ जितनी रुचि (आसक्ति) होती है, वहाँ उतनी ही सुंदरता (विदित) होती है।

कितना गंभीर, गवेषणा-पूर्ण सिद्धांत है। सुंदर सभी हैं, केवल काली लैला को मजनूँ बनकर देखने की आवश्यकता है।

रसनिधि ने इसीलिये कहा है—

चसमन चसमा प्रेम को पहले लेहु लगाय ;
सुंदर मुख वह मीत को तब अवलोको जाय ।
(रतन हजारा)

(१६) इसीलिये बिहारीलालजी प्रेम के उस आदर्श का वर्णन करते हैं, जिसमें प्रेम की दृढ़ता होती है। वह प्रेम का व्यभिचार वर्णन नहीं करते। देखिए, उसका आदर्श निम्न-लिखित दोहा है। लिखते हैं—

सब ही तन समुहाति छन चलति सबन दै पीठि ;
वाही तन ठहराति यह किबुलनुमा लौं दीठि ।
(बिहारी-सतसई)

कैसा अनूठा प्रेम दर्शित किया है। पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाओ-डुलाओ, पर वह हिर-फिरकर वहीं उसी जगह आकर ठहरता है। प्रेमी की दृष्टि अपने प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य पर कब ठहर सकती है। सबके सम्मुख दृष्टि जाती है, पर क्षण-भर के लिये। पश्चात् सबको पीठ देकर अर्थात सबकी ओर से हटकर वह उसी प्रेम-पात्र की ओर ठहरती है,

स्थगित हो जाती है। कितना गंभीर प्रेम है। इस दोहे में 'दृष्टि का सबको पीठ देना' लिखकर बिहारीलालजी ने मुहाविरे को जिस विदग्धता से चस्पाँ किया है, उसे देखिए। साथ-साथ दृष्टि के पीठ देने में जो बारीक बीनी है, उस पर भी विचार कीजिए। इतना सब होते हुए 'किबुलनुमा' की उपमा देकर तो कविवर ने गजब ढा दिया है। कैसी सजीव और नवीन उपमा है, इसे अलंकार-प्रेमी देखें। किबलेनुमा' की सुई का रुख सदैव एक निश्चित दिशा की ओर रहता है। जी चाहे, जहाँ को उसका रुख फेर दो, पर वह तुरंत ही निश्चित दिशा की ओर हो जायगा। प्रेमी की दृष्टि की भी यही अवस्था है। कोई अन्य कितना भी सुंदर, मनोहर क्यों न हो, उसे उससे क्या संबंध। उसे तो उसका प्रेम-पात्र ही सबसे अधिक सुंदर है।

(१७) प्रेमी के नेत्रों द्वारा प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रेम-भरी आँखों को कोई छिपा नहीं सकता। भारतेंदु हरिश्चंद्र कहते हैं—

छिपाए छिपत न नैन लगे।

कबीरदासजी कहते हैं, प्रेम छिपता नहीं, नेत्रों द्वारा प्रकट हो जाता है। इसी से—

कहत कबीरा क्यों दुरै रुई-लपेटी आग।

बिहारीलालजी लिखते हैं—

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखैं न ;
छिन और छिन और से, ये छबि-छाके नैन।

(बिहारी-सतसई)

प्रेमी का कथन है–मैं क्या करूँ। प्रेम को कैसे छिपाकर रक्खूँ। मेरे छबि-मद पीकर मत्त हुए नेत्र बहक गए हैं, अर्थात् अपने वश में नहीं रहे, निरंकुश हो गए हैं। ये क्षण-क्षण में और-ही-और प्रकार के हो जानेवाले नेत्र मेरे जी की सब (छिपी हुई बात) कह

देते हैं। और तो ठीक ही, ये इतने बहक गए हैं कि मेरे अंतरंग हृदय का संपूर्ण भेद कहते समय 'ठौर-कुठौर' नहीं देखते । मौके-बेमौके की इन्हें कुछ भी खबर नहीं रहती।

कविवर रहीम का भी इसी प्रकार का यह दोहा है—

एक दीप तें गेह की प्रकट सबै निधि होय ;
तन-सनेह कैसे दुरै, जहँ दृग-दीपक दोय ।

इसी प्रकार के भाव को एक अन्य हिंदी-कवि ने निराले ही ढंग से व्यक्त किया है । लिखा है—

मन-महीप की खबर सब दृग-दिवान कह देत ।

पर बिहारीलालजी के दोहे का आलम इन सब उक्तियों से निराला ही है ।

(१८) प्रेम-नगर के अंधेर का भी बिहारीलालजी ने वर्णन किया है । लिखते हैं—

क्यों बसिए, क्यों निबहिए, नीति नेह-पुर नाहिं ;
लगालगी लोचन करैं, नाहक मन बँध जाहिं ।

(बिहारी-सतसई)

प्रेम-नगर में नीति तो है ही नहीं; बसें, तो क्योंकर बसें और निर्वाह करें, तो क्योंकर करें । । नेत्र तो 'लगालगी' करते हैं, और मन व्यर्थ ही बंधन में पड़ता है, अरे ! यह नीति कैसी कि—

और करै अपराध कोउ, और पाय फल भोग ।

(१९) प्रेम-नगर की एक विचित्र रीति का वर्णन और भी देखिए, और फिर कहिए कि क्या 'नेह-नगर' में कुछ भी नीति है । लिखते हैं—

छुटन न पैयतु छिनिक बसि नेह-नगर यह चाल;
मारयो फिरि-फिरि मारिए, खूनी फिरत खुस्याल।
(बिहारी-सतसई)

नेह-नगर की यह निराली चाल है कि इसमें क्षण-मात्र बसकर फिर कोई भी जन्म-भर छूटने नहीं पाता। यही नहीं (प्रेम-पात्र की चितवन का), मारा हुआ तो इस नगर में फिर-फिर (बार-बार) मारा जाता है, किंतु खूनी को जरा भी दंड नहीं दिया जाता वह खुशहाली से (प्रसन्नता-पूर्वक) स्वतंत्र घूमता है।

मकतूल का बार-बार कत्ल होना एवं खूनी का खुशहाल फिरना बड़ा ही आश्चर्योत्पादक है। प्रेम-नगर की इस धाँधली की बलिहारी है।

(२०) सुंदर और गुणवान् भी प्रेम-हीन होने से शोभा को प्राप्त नहीं होता। प्रेम-हीन की सुंदरता और गुण दोनों ही तुच्छ हैं। इस सिद्धांत को काव्य-कला कुशल, प्रेमी, महाकवि बिहारी-लालजी अपने निम्न-लिखित दोहे में प्रकट करते हैं। देखिए, कैसा सुंदर और उत्कृष्ट वर्णन है—

जद्यपि सुंदर सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह ;
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिए जितौ सनेह।
(बिहारी-सतसई)

दीपक-रूपी देह यद्यपि सुंदर, सुगठित (मधुर, अच्छी गठन-वाली) हो, फिर सगुनौ (१ गुण-संपन्न। २ बत्ती से युक्त) भी क्यों न हो, तथापि उतना ही प्रकाश (१ उजाला। २ शोभा) उसमें होता है, जितना स्नेह (१ प्रेम। २ तेल) उसमें भरा जाता है।

(२१) जिनका मानुषी-प्रेम सच्चा होने के कारण ईश प्रेम में परिवर्तित हो गया, वह महाकवि बिहारीलालजी अपने श्रीकृष्ण-प्रेम में डूबे हुए प्रेमी मन की अवस्था के विषय में स्वयं लिखते हैं—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय ;
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम-रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ।
(बिहारी-सतसई)

उक्ति में चमत्कार है । श्यामसुंदर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में ज्यों-ज्यों मन डूबे त्यों-त्यों उसका उज्ज्वल, सतोगुण-प्रधान, पवित्र होना जितना सत्य और स्वाभाविक है, उतना ही आश्चर्यकारी स्याम रँग में डूबकर पट का उज्ज्वल होना—शुभ्र होना—है ।

इस प्रकार बिहारीलालजी ने अत्यंत परिमार्जित उत्कृष्ट शैली में सुरुचि-उत्पादक प्रेम का प्रकृष्ट वर्णन किया है । प्रेमी बिहारीलाल-जी और उनके डोम-संगीत को धन्य है, धन्य है ।

(१) भक्ति-शृंगार में श्रीराधिकाजी ब्रह्म की माधुर्यमयी आह्लादिनी शक्ति हैं, एवं ब्रह्म सर्वथा उनके अधीन है । रसमय ब्रह्म की प्राप्ति गोपी-भाव की साधना से हो सकती है । भगवान की जो रस-प्राप्ति की कामना है, वह पूर्ण भाव से श्रीराधिका में विराजित है । इसी से जिस रस की पिपासा जीव के प्राण-प्राण में है, उस रस का विकास राधातत्त्व द्वारा लभ्य है । श्रीराधिका के साथ परब्रह्म श्रीकृष्ण की जो ब्रज-लीला है, वही रस का आश्रय अथच रस-साधना है । आत्मा में राधा-कृष्ण के तत्त्व का सम्यग्रूपेण विकास करके ही जीव पूर्ण रस और आनंद का अधिकारी होता है । इसके लिये प्रथम आह्लादमय प्रेम द्वारा रस-प्राप्ति के लिये 'रसो वै सः' की पूर्ण प्राप्ति के लिये श्रीराधिका की शरण लेनी पड़ती है । यदि जीव राधा-तत्त्व को हृदय में प्रतिष्ठित कर सका, तो फिर वह सांसारिक बंधनों से मुक्ति पा जाता है, और उसे ब्रह्म-सान्निध्य की प्राप्ति हो जाती है । महाकवि श्रीबिहारीलालजी लिखते हैं—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाईं परे स्याम हरित-द्युति होय ।
(बिहारी-सतसई)

इन्हीं राधिका की कृपा से माया-मुग्ध जीव संपूर्ण भ्रम जाल को छिन्न कर आत्मसाक्षात्कार द्वारा आत्मा में राधाकृष्ण-तत्त्व का विकास कर जन्म-मरण से छुटकारा पाता और केवल आनंद को प्राप्त करता है ।

श्रीसूरदासजी ने भी अपने निम्न-लिखित पद में श्रीराधिक से विनय की है—

राग सारंग

रमा, उमा अरु सची अरुंधति, नित-प्रति देखन आवैं ;
निरखि कुसुम सुरगन बरसत हैं, प्रेम-मुदित जस गावैं ।
रूप-रासि, सुख-रासि राधिका, सील महागुन-रासी ;
कृष्ण-चरण ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन-उपासी ।
जगनायक जगदीस पियारी, जगत-जननि जगरानी ;
नित विहार गोपाल लाल सँग, वृंदाबन रजधानी ।
रसना एक, नहीं सत-कोटिक, सोभा अमित अपारी ;
कृष्ण-भक्ति दीजे श्रीराधे, 'सूरदास' बलिहारी ।

(२) गोपी-जन-वल्लभ आत्माराम, मुरलीमनोहर, भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेमोन्मादिनी, प्रभु-वल्लभा गोपिकाओं को मुरली-नाद द्वारा वन में बुलाया । क्योंकि उन्होंने भगवान कृष्ण की प्राप्ति के हेतु कठिन कात्यायिनी व्रत किया था एवं भगवान में उनको माहात्म्यज्ञान-सापेक्ष प्रेम था । इस मुरली-नाद के विषय में भागवतकार ने लिखा है—

दृष्ट्वाकुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुंकुमारुणं ;
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।

अर्थात् कुमुद-पुष्पों से परिपूर्ण अखंड मंडलमय वन को, जो लक्ष्मीजी के मुख के अरुण नव-कुंकुम से तथा चंद्रमा की कोमल किरणों से रंजित हो आभामय था, देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने व्रजांगनाओं के मनों को हरण करनेवाला 'कल' वंशी-नाद किया।

इस 'कल' से स्पष्ट है कि यह 'क्लीं' काम-बीज का गान है। यह काम-बीज वह है, जिसमें संपूर्ण कामनाओं का लय हो जाता है। सब रसों के मूल में 'रसो वै सः' के सिद्धांतानुसार एक परमात्मा का अद्वितीय रस ही सर्वत्र व्याप्त है। यही रस (आनंद) संसार में अनेक रूपों में व्याप्त है। एक अद्वैत ब्रह्म-रस को अनेक रसों के रूप में दिखलाना माया का कार्य है, एवं भिन्न-भिन्न भावों या रूपों में आनंद का बोध होना रस का कार्य है। भक्त-वत्सल भगवान की कृपा से जीव को जब यह बोध हो जाता है कि भिन्न-भिन्न रसों की कल्पना मायामय है, एवं सबका मूल एक ही रस है, तब उसे समस्त द्वैत जगत् के प्रेम के मूल में अद्वितीय भगवान के एक ही प्रेम-रस का अनुभव होने लगता है। इसी से वह संसार से वैराग्यवान होकर भगवान का अनन्य भक्त बन जाता है। श्री-कृष्ण भगवान की त्रिभुवन-विमोहिनी मुरली से यही काम-बीज का कल गान निकला था, जिसे श्रवण कर गोपियों ने संसार के सब द्वैत-मूलक प्रेम को भूलकर, लोक-परलोक का भय त्यागकर श्रीकृष्ण के चरण-कमल की शरण ली थी। जब क्लीं काम-बीज है, तब क्लीं का नाद काम बढ़ानेवाला होगा ही। परंतु यह वह काम था, जिसमें संपूर्ण कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। गोपिकाओं

ने मुरली-नाद श्रवण कर 'कांतासक्ति'-भाव से भगवान को भजने के हेतु सर्वस्व त्यागकर वन की राह ली। इसी वंशी-नाद के वर्णन में भक्ति-शृंगारी बिहारीलालजी लिखते हैं—

कितीं न गोकुल कुल-बधू काहि न किन सिख दीन ;
कौनें तजीं न कुल-गलीं, ह्वै मुरली-सुर-लीन।
(बिहारी-सतसई)

(३) शृंगार-भक्ति में भक्तजीवात्मा का उद्देश्य परमात्मा से चिर-संभोग होता है। यह प्रेम-भक्ति की पूर्णता में ही संभव है। ध्यान रहे, 'आत्मा' ही प्रियतम है, एवं भगवान ही आत्माराम हैं। भगवान श्रीकृष्ण सर्वव्यापक परमात्मा हैं, एवं समस्त जीवों के अंतरात्मा स्वरूप हैं। जब गोपियों का प्रेम और आत्मसमर्पण उन्हीं परमात्मा में हो गया, तब उनके लिये गृहस्थ स्त्री का पति-पुत्रादि के प्रति कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सका। उन्होंने धर्माधर्म त्यागकर अनन्य भाव से भगवान की शरण ली। उनकी प्रार्थना पर भगवान कृष्ण ने उनकी इच्छा-पूर्ति की। इसी के विषय में लिखा है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ;
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।

इस श्लोक में योगेश्वर और आत्माराम पदों पर ध्यान देने से इस रास का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। इसमें निर्लिप्तता और स्वरूप में स्थिति का अच्छा स्पष्टीकरण होता है। कांत-भाव से भक्ति करनेवाली भक्त आत्मा की साधना का यही अंतिम फल है, जिसमें परमात्मा-रूप प्रियतम का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसी अवस्था के विषय में रहस्यवादी निर्गुण-मार्गी कबीरदास ने अपने निम्न-लिखित दोहे में संकेत किया है। लिखा है—

बिरह-जलंती देखकर साईं आए धाए ;
प्रेम-बूँद से छिरकिकै जलती लई बुझाए ।
(साखी)

स्मरण रहे, भक्त की भावना के अनुसार हृदय में प्रतिष्ठित भगवान की साकार मूर्ति में एकाग्र ध्यान लगाने से ध्यान के परिपाक में भगवान की साकार मूर्ति के दर्शन होते हैं। परंतु सर्वांतर्यामी परमात्मा का यथार्थ दर्शन भक्त को उस समय होता है, जब भक्ति और ज्ञान का एकीकरण हो जाता है, और सगुण के साथ निर्गुण का भी साधन हो जाता है। गोपियों ने परमात्मा की साकार मूर्ति के दर्शन तो कर लिए, परंतु पूर्ण आनंद की प्राप्ति तो उन्हें भगवान को सर्वत्र देखने में ही हो सकती थी। परमात्मा के सर्वत्र दर्शन करने ही में परमानंद का पूर्ण लाभ है। रास में गोपियों की परा भक्ति की पराकाष्ठा हुई थी। उन्होंने सर्वत्र भगवान के दर्शन किए थे। इसी रास में गोपियाँ परमात्मा श्रीकृष्णचंद्र के चरण-कमलों में अपने जीवन को समर्पण कर और परमानंद-रूप समुद्र में अपने शरीर, मन, प्राण और जीवात्मा को विलीन करके कृतार्थ हुई थीं। महाकवि श्री बिहारीलालजी ने रास के वर्णन में भक्ति-शृंगार के अलौकिक, आध्यात्मिक भाव को लौकिक भाव में, निम्न-लिखित दोहे में, बड़ी सुंदरता से अंकित किया है। लिखा है—

गोपिन संगति शरद की रमत रसिक रस रास ;
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास ।
(बिहारी-सतसई)

(४) श्रीमद्भागवत में लिखा है कि भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति पर गोपियों को सौभाग्य के अत्यंत गर्व से मान हुआ। विशेप मान

श्रीराधिका को हुआ; क्योंकि इन्हीं के प्रेम में तो मधुर गोपी-प्रेम का चूड़ांत निदर्शन है। इस मधुरतम मान-लीला का वर्णन वैष्णव भक्ति-शृंगारी कवियों ने बड़ा ही भाव-पूर्ण किया है। महाकवि श्री बिहारीलालजी के अनेक दोहों में इसका काव्य-कला-पूर्ण उत्कृष्ट वर्णन पाया जाता है। निम्नलिखित दोनों दोहे देखिए—

तो ही को छुटि मान गो देखत ही ब्रजराज ;
रही घरिक लौं मान सी, मान किए कि लाज।
सतर भौंहँ रूखे वचन, करति कठिन मन नीठि ;
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौं ही डीठि।

(बिहारी-सतसई)

निम्न-लिखित दोहे में तो भक्ति-शृंगार-पूर्ण मान का प्रेममय अनूठा निदर्शन है। लिखा है—

सखी सिखावति मान-बिधि, सैनन बरजति बाल ,
हरुवे कह मो हिय बसत सदा बिहारीलाल।

(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रेम-भाव का सहज भोलापन द्रष्टव्य है।

(५) जब भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा ने गोपियों के सौभाग्य के मद एवं मान को देखा, तब वह वहीं अंतर्द्धान हो गए। भक्त-वत्सल भगवान भक्त की उन्नति में बाधक अहंकार को नाश करके भक्ति-मार्ग को निष्कंटक कर देते हैं। इसी से गोपियों पर अनुग्रह करके उनके अहंकार को नाश करने के हेतु वह अंतर्द्धान हो गए। इसपर गोपियों का अहंकार नष्ट हो गया और वे अनुताप करने लगीं। गोपियों की यह विरहावस्था ही भक्त के अनुताप की अवस्था है। इस अनुताप की अग्नि से भक्त जीवात्मा के चित्त का संपूर्ण दोष-रूप मैल भस्म होकर चित्त निर्मल हो जाता है, जिससे उसके

हृदयासन पर भगवान आ विराजते हैं। यह विप्रलंभ (विरह) अवस्था ही जगद्गत साधक जीवों को अधिक आनंददायक है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण-स्मृति निरंतर जाग्रत रहती है। इसमें अखिल विश्व की बाह्य प्रतीति नष्ट हो जाती है। इसमें प्राणवल्लभ भगवान से संभोग की तीव्र आसक्ति रहने से हृदय की तल्लीनता प्राप्त हो जाती है। इसी में जीवात्मा की संपूर्ण भावनाएँ भगवान में लय हो जाती हैं। इसी विरह में प्रेम की पूर्णता होती है। बिहारी-सतसई में इस विरह के अनेक वर्णन मिलते हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे देखिए—

गोपिन के अँसुवन भरी सदा असोस (ष) अपार ;
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार।
(बिहारी-सतसई)

स्याम-सुरति कर राधिका, तकति तरनिजा-तीर ;
अँसुवन करति तरौंस कौ, खिनकु खरौहौं नीर।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे भक्त को भगवान का एक पल का विरह भी सह्य नहीं होता। बिहारीलालजी लिखते हैं—

जाति मरी बिछुरी घरी जल-सफरी की रीति ;
छिन-छिन होति खरी-खरी, अरी जरी यह प्रीति।
(बिहारी-सतसई)

यह विरह ही ध्यान की अवस्था है। इसी विरह की तीव्रता में—तीव्रतम संवेग में—ध्याता, ध्यान और ध्येय का एकीकरण हो जाता है और भक्त जीवात्मा के रोम-रोम में भगवान के आनंदमय रूप के सिवा कुछ भी नहीं रहता। इसी अवस्था में भगवान से तन्मयता प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ;
तद्गुणान्येव गायन्त्यो नात्मागाराणि संस्मरुः ।
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ;
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ।

अर्थात् वे गोपियाँ तन्मय होकर भगवान के आलाप में निरत हुईं। वे तत्स्वरूप होकर उन्हीं के गुणों को गाती हुई अपने-अपने घरों को भूल गईं। फिर कृष्ण-भावना-भावित अंतःकरणवाली वे यमुना-तट पर आकर एकत्र सम्मिलित हो भगवान श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा करने लगीं। महाकवि बिहारीलालजी ने ऐसी ही दशा के वर्णन में लिखा है—

जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग-सिरमौर ;
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगन अजौं वह ठौर ।

(बिहारी-सतसई)

(६) राधाकृष्ण-तत्त्व की हृदय में प्रतिष्ठा कर आत्मा में उनकी अनोखी झाँकी निहारकर भक्ति-शृंगारी-अनन्य प्रेमी बिहारीलालजी कहते हैं—

नित प्रति एकतहीं रहत बैस-बरन-मन-एक ;
चहियत युगलकिशोर लखि, लोचन-जुगल अनेक ।

(बिहारी-सतसई)

और इसी में ब्रह्मानंद का अनुभव करनेवाले भक्ति-शृंगारी कविवर ने लिखा है—

तज तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग ;
जेहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग ।

(बिहारी-सतसई)

इस प्रकार बिहारी-सतसई में भक्ति-शृंगार का समुज्ज्वल वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णन के इनके अनेक दोहे हैं, जिन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ देने में असमर्थ हूँ। फिर भी केवल चार-छः दोहे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

दान-लीला के विषय का यह दोहा दर्शनीय है—

लाज गहो, वे काज कत, घेर रहे, घर जायँ;
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नायँ।
(बिहारी-सतसई)

मुरली-लीला के विषय का यह दोहा है—

बत-रस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंहँ करै, भौंहँन हँसै, दैन कहै, नटि जाय।
(बिहारी-सतसई)

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवसर के ये दोहे भी देखने योग्य हैं—

कहा लड़ैते दृग करें, परे लाल बेहाल;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत-पट, कहूँ लकुट-बन माल।
फिरि-फिरि बूझति, कहु कहा कह्यौ साँवरे गात;
कहा करत देखे कहाँ, अली चली क्यों बात।
रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनियाँ वारि;
फेरति कर उलटी रई, नई बिलोवनहारि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि श्रीबिहारीलालजी केवल मानवी शृंगार-वर्णन करनेवाले कवि न थे, उनकी रचना में भक्ति-शृंगार के त्रिताप-संतापहारी समुज्ज्वल आध्यात्मिक प्रेम के भी उदात्त वर्णन भरे पड़े हैं।

षट्ऋतु-वर्णन

सत्य तो यह है कि मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है, और कला सौंदर्य का केवल अनुकरण ही नहीं करती, वरन् नूतन सौंदर्य की सृष्टि भी करती है। यदि हम कहें कि कविता सुंदरता का मूर्तिमान रूप है, तो अत्युक्ति न होगी। सौंदर्योपासना द्वारा हम सुंदर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार के एकत्व की स्थापना करते हैं। यह विश्व-व्यापिनी उपासना है। इसका क्षेत्र अत्यंत विशाल है। इसमें कोई सांप्रदायिक भेद-भाव नहीं होता। मत-मतांतरों के झगड़ों से यह कोसों दूर है। इसी उपासना द्वारा हम उस सौंदर्य की झलक प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं, जिससे संपूर्ण विश्व की सुंदर-सुंदर वस्तुओं को अनूठी सुंदरता प्राप्त होती है। इसी उपासना से समष्टि और व्यष्टि के आदर्श का मेल हो जाता है। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता हमें इसी उपासना में दृष्टि गोचर होने लगती है।

सच पूछा जाय, तो प्राकृतिक सौंदर्य के मनोहर दृश्यों को देखने से उदासीनता दिखाना मानो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के प्रति उदासीनता दिखलाना है। प्राकृतिक सौंदर्य-दर्शन से आनंद-विह्वल होना मन का एक उत्तम गुण है। वसंत के शोभामय वन अपने सौरभित सुमन-संपत्तिवाले तरु-कदंब की अलौकिक छटा दिखलाते हुए किसका मन हरण नहीं करते? कृष्णा कोकिल की सुरीली कूक किसे सुहावनी नहीं लगती? नदी का निर्मल जल कलरव करता हुआ जब प्रवाहित होता है, तब किसके नेत्र और कान उससे आनंदित होकर अंतरात्मा को उल्लसित नहीं करते? वर्षा-काल का बहुरंगा इंद्र-